परिक्रमा

70 नटखट लघुनिबंध

शरद जोशी



परिक्रमा : ब्रह्मपुत्र

इन्दौर के लोकप्रिय दैनिक 'नई दुनिया' में १९५३-५६ के बीच 'परिक्रमा' उपशीर्षक से व्यंग्य एवं परिहास का एक स्तंभ प्रकाशित होता रहा था, जिसके निबंध अपनी अनूठी शाब्दिक फुलझड़ियों के कारण पाठकों को बहुत प्रिय रहे। ब्रह्मपुत्र के नाम की नकाब ओढ़े इस स्तम्भ के लेखक थे श्री शरद जोशी।

इस पुस्तक में लेखक की सत्तर सर्वश्रेष्ठ परिक्रमाओं का संकलन किया गया है, ताकि विनोद के चुटीले किन्तु सहानुभूतिपूर्ण चश्मे से देखी गई जिन्दगी की धूप छाँह की ये पैनी अनुभूतियाँ अधिक व्यापक पाठकवर्ग को प्राप्त हो सकें। व्यक्ति और समूहों की विचित्रता और हलके फुलके बेतुकेपन को बारीकी से देखने वाली इन आँखों की अक्की खूबसूरती हिंदी साहित्य में शायद विरली ही होगी।

निबंध यहां लगभग ज्यों के त्यों उसी रूप में प्रकाशित किये जा रहे हैं जिस रूप में लेखक ने उन्हें प्रति सप्ताह तीन की बेतकल्लुफ रफ्तार से एक समाचार पत्र के लिये लिखा था। पुस्तक को आप कहीं भी खोलें, शिष्ट गुदगुदी का निर्मल झरना आपको वहाँ प्राप्त होगा।

परिक्रमा

(७० नटखट लघुनिबंध)

लेखक

शरद जोशी

मन्थन प्रकाशन
इन्दौर

प्रथम संस्करण
जनवरी १९५८

अंतर्सज्जा
विष्णु चिंचालकर

आवरण शिल्प
कृ. च. श्रीवास्तव

मूल्य
३ रुपये ७५ नये पैसे

प्रकाशक
मन्थन प्रकाशन
५ नेताजी सुभाष रोड
इन्दौर (म. प्र.)

मुद्रक
मॉडर्न प्रिंटरी लिमिटेड
कड़ावघाट
इन्दौर

राजेन्द्र माथुर को

अनुक्रम

परिक्रमा

जहँ जहँ डोलत सोइ परिकरमा

—कबीर

पिन

चुभने को यों नजरें भी चुभ जाती हैं, गीत की कड़ी उतर कर तड़पा देती है, पर जो सजीवत्व पिन या सुई की चुभन में है वह चाँद की किरण और हिरणी के सींग में कहाँ ?

चुभन मानवीय आवश्यकता है। चुभन हमें जाग्रत, चेतन रखती है, चाहे वह भाव-वाचक हो अथवा वस्तु-वाचक।

इसी कारण सुई और पिन के आविष्कारक ने जब काँटे को लोहे में बदला था तब भविष्य के शून्य में बिखरे अनेकों चित्रों में संगठित होने की आशा उभरने लगी थी।

और वे आगे संगठित हुए। जो अलग था वह इस चुभन को निमंत्रित कर जुड़ गया। मिलन मार्ग में काँटे की गहरी आवश्यकता का अन्दाज लगाइए। बिन काँटा, बिन चुभन, मिलना कैसा !

इसी कारण शस्त्र घृणा से देखे जाएँगे, पर पिन को प्यार से ही रखा जाएगा। पिन जो काँटों के रिश्ते में लगती है, सुई की छोटी बहन है, वह सिर पर जूड़ा बाँधती है। चाहे जहाँ चली जाती है। दर्दीली और मिलनसार।

आदमी हवाई जहाज के बिना काम निकाल लेता है और पिन के बिना अटक जाता है। पिन उपयोग की साकार मूर्ति है।

निठल्ले हाथ सदैव पिन की ओर बढ़ते हैं। निठल्ली पिन सदैव दाँतों की तरफ जाती है।

इंसान, कागज, कलम और पिन, यही चार चीजें मिलती हैं, और एक दफ्तर बन जाता है। सारे संसार की अनेकों कार्रवाइयों के ये आधार तत्व हैं।

दो कपड़े मिलाना हो, सुई लगाओ। दो कागज मिलाना हो, पिन लगाओ। कागज और कपड़ा न हो तो सारा विश्व एक उजड़ा घोंसला हो जाए। चुभन के बिना कागज और कपड़े को रूप नहीं मिलता।

इसी कारण पिन को परमेश्वर मानना पड़ता है। कॉलर में लगी छुपी चुपके से विश्वास बँधाती है। टोपी में लगी इंसान को विवेक-चेतन रखती है।

आदिनाथ शिवजी के बाने को पहनने के लिए गुरु गोरखनाथ ने वर्षों तपस्या की, तब कहीं शिव ने उन्हें बाना दिया। काश, गोरखनाथ को सुई मिल जाती तो वह ऐसे कितने ही बाने टेलर कर देते।

पिंगला के प्यारे राजा भरथरी को जोग की दीक्षा देने के पहले छुरे से छेद कर उन्हें कनफटा बनाया गया था। काश, पिन होती तो कितनी सरलता से यह काम हो जाता!

सुई नारी का विश्वास है, पिन पुरुष का, इसे कौन खोना चाहेगा?

जब स्टोव का तेल रुकता है तब पिन की महत्ता नये रूप में प्रकट होती है। जब पैरों तक जाने के अभिलाषी केश अनुशासनहीन होते हैं, तो हेयर-पिन अपने बंधन में उनकी शक्ति समेटती है।

कभी टाई पर लगी रहती है, कभी साड़ी पर।

पहले कई बार आदमी पानी के लिये तड़फता था। अब पिन के बिना भी वैसा ही तड़फता देखा गया है।

पिन शांति की प्रतीक है, कर्मठता की प्रतीक है। छरहरे चमकीले तन की पिन मोहित करती है।

इसी कारण गुलाब में काँटे की तरह, जब चमकीले पीले पिन कुशन पर सैकड़ों पिनें उठी हुई नजर आती हैं, तो लगता है जैसे टेबल पर छोटा सा सूरज अपनी अनेक नन्हीं मुन्नी किरणों के साथ उग आया है।



आजकल शासन और निर्माणी चक्कर के कारण एक नई नस्ल तैयार हो रही है, जिसे "विशेषज्ञ" कहते हैं। योजना की हर शाखा पर यह परिन्दा पाया जाता है। इसमें सुरखाब के पर जड़े रहते हैं। यह काना हो चाहे आँखों वाला पर इसे अन्धों में शाहंशाही प्राप्त रहती है।

निर्माण के क्षेत्र में प्रशिक्षित जीव, "ट्रेन्ड एनिमल", तो कुछ जापानी पद्धति से तैयार हुए धान के पौधे की तरह होता है, जिससे उत्पादन अधिक हो सकता है, पर वह सारे फार्म में एक अलग ही ऐसा वृक्ष होगा जिसे नर्सरी में तैयार किया गया हो और जो विशेष स्वाद के फल देता हो। चाहे दे नहीं।

सरकार उसे विशेष खाद का अलाउन्स देती है। उसके पत्तों की ओर प्यार से देखती है, उसके फल को बेचती नहीं पर प्रदर्शिनी में रखती है; विदेशी यात्री और केन्द्रीय मंत्री से उसका हाथ मिलवाती है। प्रांत और विदेश जाने के लिए उसे ढीला छोड़ देती है।

विशेषज्ञ की स्थिति कुछ उस साधु की तरह होती है जो सट्टे के आँक बता सकता है, पर चुप है, और लोग उसकी शकल खड़े खड़े जोहा करते हैं कि यह बोलेगा, पर वह बोलता नहीं।

वह हमारे किए हुए कामों की तरफ ऐसे देखता है जैसे किसी इंसानी कृति की ओर देख कर खुदा मुस्करा रहा हो।

आप जानते हैं कि जीवन के सब से सुखद क्षण वे होते हैं जब हम किसी व्यक्ति को एक गलत काम करते देखते हैं, और उसका सही ढंग क्या है यह हमें पता है, पर हम बोलते नहीं।

अज्ञानियों की बात सुन कर जो मुस्कराहट आपके चेहरे पर आती है, वैसी मुस्कराहट विशेषज्ञ के चेहरे पर हर व्यक्ति से मिलते समय आ जाती है।

इसके सिवाय विशेषज्ञ में एक और विशेषता होती है, और वह यह कि

जिस चीज को वह जानता है, वह दूसरे में भी नजर आ जाए तो प्रतिक्रिया के कारण वह नाराज हो जाता है। उस समय उसके विशेष आचरण फूटते हैं और उसकी आत्मा चिड़चिड़ाती है।

विशेषज्ञ समाज के सहारे और सहयोग के कारण बना हुआ व्यक्तिवादी होता है। जिसके अहं का कारण उसका ज्ञान ही नहीं दूसरों का अज्ञान भी होता है। उसकी समझ ज्ञान की चरम सीमा होती है और इसी कारण वह अपने आप को बोधि वृक्ष के नीचे से उठ कर आया मानता है और समाज की सुजाता से खीर की उपेक्षा करता है।

संसार के हर क्षेत्र में विशेषज्ञ होते हैं। कहीं भी जाइए, कोई बेतुका, बेरुखा व्यक्ति आपको इधर उधर घूमता या खामोश किसी तरफ ताकता मिल जाएगा, और लोग दूर खड़े उसकी तरफ उंगली उठाकर आपको बताएँगे कि वह विशेषज्ञ है।

हम भारतीय मूर्तिपूजक, व्यक्तिपूजक लोग हैं, अपनी हर अच्छाई, हर परिवर्तन और हर क्रांति के लिये किसी व्यक्ति विशेष का आभार मानते रहे हैं, और उसके कहे को संगमरमर पर बनी खुदाई लकीर समझते रहे हैं।

अभी पिछले समय तक पारलौकिक प्रश्न हमारे सामने थे, तब साधु हमारे देवता थे। फिर आजादी की जंग हमारे सामने आई तो नेता हमारे देवता हो गए। और अब योजनाओं के पंच-वर्षीय प्रहर में विशेषज्ञ हमारे देवता हैं।

जिस पत्थर में ईश्वर बैठा होता है, वह पत्थर ही माना जाता है, पर जिस पत्थर पर सिन्दूर लगा हो उसे ईश्वर समझा जाता है।

विशेषज्ञ सिन्दूर लगे पत्थर हैं, जो हर जगह अटल खड़े हैं, आपकी पूजा माँगते हैं। और जहाँ अनुभव का ईश्वर है वह पत्थर ही समझा जाएगा, क्योंकि उस पर शासकीय प्रामाणिकता का सिन्दूर नहीं।

छिलके

श्रीमती प्रिसीला अलसाई ने अपनी १०५ वीं वर्षगाँठ पर लन्दन में आलू के छिलकों को धन्यवाद दिया जिनके कारण वे इतना लम्बा जीवन बिता सकीं। आपका कहना है कि यदि छिलके सहित आलू खाए जाएँ तो शरीर को बड़ा लाभ पहुँचता है।

छिलटे, छिलके या फौतरे चाहे निकाल कर बाहर फेंक दिए जाए, परन्तु उनके महत्व से कौन इंकार कर सकता है? इस तरह के छिलकों की अपनी एक खासियत होती है।

आम के छिलके घर के बाहर फेंकने से घर की शोभा व सम्मान बढ़ता है। यह करना जरूरी है। वह वर्ग जो प्याज के छिलके पीछे के दरवाजे फेंकता है व आम के छिलके बाहर के दरवाजे से फेंकता है, मध्यम वर्ग कहलाता है।

म्युनिसिपेलिटी के सफाई पोस्टर चाहे जो कहें, पहली किताब में चाहे जो सीख दी गई हो, परन्तु जिन्दगी के मजे केले के छिलके सड़क पर फेंक मजा देखने में ही है।

छिलके रखना कई बार असभ्यता माना जाता है। चाहे छिलके में पोषक तत्व हों, पर शराफत का तकाजा है कि आप उसे निकाल दें। इसमें कुछ नजाकत भी है। लखनऊ की मजनूं की उँगलियों जैसी ककड़ी के भी छिलके बारीक तराशे जाते हैं। नहीं तो नवाबी खानदान के जादे व जादी के गले में खराश का डर रहता है।

भगवान ने छिलके बनाए हैं तो छिलके खाने वाले भी बनाए हैं। बीर-बल ने बादशाह पर आम चूसते समय जो आरोप लगाया था कि शाहंशाह तो आम के साथ गुठली व छिलके भी खा जाते हैं, उस किस्से को छोड़ भी दो, तो महात्मा शेखसादी की जिन्दगी के कई दिन ऐसे ही गुजरे कि फल खरीदे, छिलके घोड़े को खिला दिए, गरी खुद खा गए व बीज मुर्गी को डाल दिए।

छिलके की कहानी कब तक कहें! ज्यों सज्जन की बात बात में बात,

त्यों केले के पात पात में पात । और कांदे के छिलके जितने निकालो उतने निकलेंगे ।

पर जो कुछ है छिलका ही है । छिलका निमंत्रित करता है, रस उपयोग में आता है और गुठली . . . ? गुठली फेंक दी जाती है ।

केवल फलों पर ही नहीं, आदमी के पास भी क्या है ? वह अपने छिलकों की वजह से जाना जाता है । अन्दर की बात तो बाद में पता लगती है । पहला निर्णय तो छिलकों के आधार पर बनता है ।

छिलका रूप है, सौंदर्य है, आकर्षण है । अगर आपका छिलका अच्छा है तो समाज में आपकी खपत हो सकती है । अगर आपका छिलका खराब है, सड़ा है, तो मुझे क्षमा कीजिए, आपकी आन्तरिक मिठास व्यर्थ है ।

इसलिए मनुष्य की कहानी अपना छिलका सुधारने का एक दीर्घ प्रयत्न है । आईने के सामने सब अपना छिलका सुन्दर करने का यत्न करते हैं, या करती हैं ।

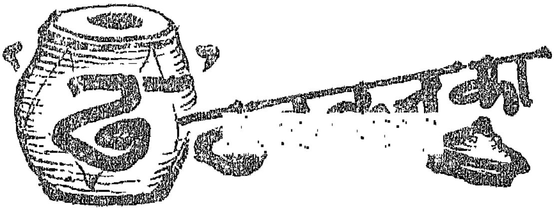
आप छिलका बदलिए तो आप साधारण व्यक्ति से नेता बन जाएँगे । छिलका बदलिए और आप माया जगत से हटकर साधु बन जाएँगे ।

प्रभु एक है, पर उसके रूप छिलके अलग अलग हैं । आत्मा एक है, पर छिलका-वैभिन्य का नाम ही विश्व है ।

राजनैतिक सभा के छिलके दूसरे होते हैं और सिंहस्थ कुंभ में दूसरे छिलकों का सम्मान होता है ।

पर समय और इतिहास छिलकों के सहारे अधिक दिन नहीं रहता । वह पर्दे फाड़ता है, छिलके निकाल कर फेंक देता है और सत्य की जांच कर लेता है ।

अधिक स्वास्थ्यप्रद यह है कि काल की गति इन्हें छिलकों सहित समाप्त कर दे ।



पहाड़ों के साम्राज्य में सतपुड़ा सा मौन और गंभीर बना, अक्षरों के बीच एक अक्षर है, "ढ" ! ढक्कन का "ढ" ।

मानवीय दृष्टि और कान इसे अपमान से देखते और सुनते हैं । यह अक्षर शक्तिहीनता, निष्प्राणता, और व्यर्थ की चीजों के लिये काम में आने लगा है ।

ढ से बना ढोर—जिसका मनुष्य सम्मान नहीं करता । ढोल जो दूर से ही सुहाने लगते हैं, उनमें पोल होती है । ढाँचा जो प्राणहीन, सौन्दर्यहीन होता है । ढोंग, जो झूठ है, दिखावा है, ढीला जो अयोग्य है, चुस्त नहीं । ढचरा जो बिगड़ा हुआ रहता है ।

और "ढ" का मतलब है मूर्ख, विवेकहीन ।

कविताओं के आचार्यों ने इसका उपयोग न करने की घोषणा कर दी । यह अपमानित हुआ । पर भाषा-शास्त्र कहता है कि सदियों से इसका रूप नहीं बदला ।

प्राकृत और अपभ्रंश ने इसका उपयोग किया । शिव के उपासकों, भूत प्रेत पर विश्वास करने वालों ने इस शब्द को अपनाया । कापालिकों ने इसे चुना । गर्व से अपने नाम रखे-ढम्मणपाद, ढढ्ढरीनाथ, आदि ।

महाराष्ट्री आदि दक्षिण भाषाओं में इस शब्द का उपयोग होता था । आर्य भाषाओं में "ढ" का उपयोग कम हुआ, अनार्यों में अधिक । संस्कृत का शब्द मठ महाराष्ट्री में मढ कहाता रहा, संस्कृत का पठित वहाँ पढित बना ।

शैवमत के पूजक अनार्य रहे, और यह धर्म भी सभी आर्य धर्मों से अधिक प्राचीन हैं । जैसे अनार्य इस धरती पर आर्यों के पूर्व से ही थे ।

आर्यों ने अनार्यों की भाषा को ठुकराया, संस्कृति को कुचला । "ढ" शब्द को, जो अनार्यों को प्रिय था, घृणा से देखा गया । संसर्ग के युग में ढ धीरे से आर्य भाषा में घुसा, पर अधिक स्थानों पर उसे सम्मान नहीं मिला।

आर्यों की ध्वनि थी "ॐ", और ढ के विरोधी थे वे। तंत्र के उपासकों ने, शिव की साधना करने वालों ने उसे प्रायः उपयोग किया और वैष्णव-मार्गी भक्तों ने कहा, यह ढोंग है।

ढ ने ढाढ़स रखा। उसका अस्तित्व मेटना आसान नहीं था। युद्धों के समय सुरक्षा में उसका उपयोग हुआ - "ढाल"।

ढ ने एक और मौका मारा। वह ढक्कन बनकर कई वस्तुओं के साथ हो गया। यों ढाके की मलमल ने भी इस अक्षर को कई दिन जबान पर रखा था।

आज "ढ" जाना जाता है—"ढ" ढक्कन का। ढक्कन जो सुपात्र है अथवा कुपात्र, खाली है या भरा, यह बात छुपाकर, ढक कर रखता है। यदि भरा है तो उसकी रक्षा करता है। ढाल की तरह।

श्री ढेबरभाई के चुनाव के साथ इसका सम्मान बढ़ा व शीर्ष पंक्तियों पर इसे स्थान मिला।

समाजवादी ढाँचे में इस "ढ" का क्या होगा, मैं नहीं कह सकता। जो नई शब्दावली बन रही है उसमें तो ढ को अधिक स्थान नहीं है।

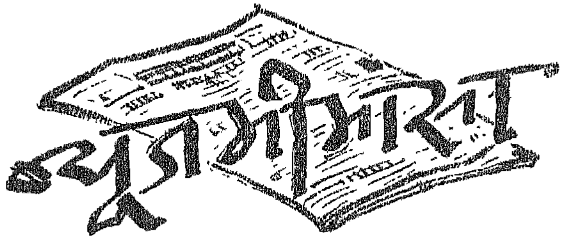
लोक गीतों में एक प्यारा नायक आया था-ढोला, और गाँव गाँव में मारुड़ियों ने उसका उपयोग किया। दूहे प्रसिद्ध हो गए।

ऋम-ऋम ढोला पंथ कर,
ढाल म चूके ढाल
आ मारू दीजी महल
आखई भूठ एवाल

ढोलामारू के गीत सारे देश ने गाए। ढोला प्रेमी का पर्याय बना।

ढ ढोल बजाता विवाह स्थल पर दरवाजे खड़ा रहा, वधुओं को उसके शब्द मधुर लगे- "मीठे लागे वाके बोल। ए सखि साजन, ना सखि ढोल।"

"ढ" के जीवन के ये अच्छे अवसर हैं, पर फिर भी उसे समृद्धि, सुख सम्मान नहीं मिला। वह "ढ" ही रहा और रहेगा भी।



समाचार पत्र को मूल रूप से ही दो भागों में विभाजित करना होगा : समाचार सामग्री तथा विज्ञापन ।

मीमांसा समाचार सामग्री की होगी, विज्ञापन की नहीं । विज्ञापन मीमांसा अन्य शाखा है ।

समाचार पत्र यथार्थजन्य तथ्यों का उद्‌घाटन कर, तथा अनुमान द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान को समीक्षा सहित प्रस्तुत की गई सामग्री का समूह है ।

कारण उपलब्ध तथा अनुपलब्ध दोनों प्रकार के होते हैं ।

उपलब्ध का विश्लेषण क्षेत्र के अंतर्गत है, तथा अनुपलब्ध में राजनीति अथवा धनार्जन आदि अन्य कारण आते हैं ।

उपलब्ध कारण दो प्रकार के होते हैं । समवायी कारण, जिनमें सम्बन्ध के रहने से समाचार का जन्म होता है । उदाहरणार्थ, समाचार पत्र में व्यक्तिगत इच्छाओं के कारण दी गई सामग्री, ख्याति के सम्बन्ध में । तथा दूसरा असमवायी कारण, जिसमें कार्य के साथ सम्बन्धित होने के कारण पत्र में स्थान प्राप्त होता है ।

अब समाचार के उद्‌गम अथवा प्राप्ति के मार्ग की मीमांसा आवश्यक है ।

उद्‌गम तीन हैं- लौकिक, श्रुति तथा आप्त ।

लौकिक में निज संवाददाताओं द्वारा प्राप्त सामग्री मानी जाएगी । श्रुति में रेडियो तथा टेलीफोन द्वारा प्राप्त सामग्री सम्मिलित है । आप्त उस सूत्र से प्राप्त होती है जो वस्तु को यथार्थ रूप से जानता है तथा हितोपदेष्टा होने के कारण जिसके वाक्यों को हम प्रमाण मान सकते हैं । ए. पी. आई., पी. टी. आई. द्वारा प्राप्त समाचार आप्त हैं ।

इन उद्‌गमों द्वारा प्राप्त सामग्री से समाचार वस्तु का निर्माण होता है ।

यह वस्तु विश्लेषण करने पर दो भागों में विभाजित होती है ।

१. सिद्धार्थक वाक्य २. विधायक वाक्य

किसी अधिकार अथवा सत्ता को प्रदर्शित करने वाले वाक्य को सिद्धार्थक वाक्य मानेंगे । सरकार द्वारा प्रसारित प्रेसनोट तथा विज्ञप्तियाँ सब सिद्धार्थक वाक्य मानी जाएँगी ।

तथा किसी अनुष्ठान के प्रेरक वाक्य को विधायक वाक्य मानेंगे । मंत्रियों के यत्र-तत्र दिए गए भाषण विधायक वाक्य हैं ।

इस प्रकार यह सम्पूर्ण समाचार वस्तु अपौरुषेय है । संपादकीय, कॉलम आदि पौरुषेय हैं ।

पौरुषेय की प्रामाणिकता तभी मानी जा सकती है जब वह आप्त पुरुष द्वारा निर्मित हो ।

आप्त पुरुष, याने संपादक या कॉलमिस्ट, एक वास्तववादी मीमांसक होता है । स्थान स्थान पर जो सामग्री का पार्थक्य है उससे अपने आलोचक ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष से अनुमान तक आता है । इस ज्ञान को एक स्वतंत्र प्रमाण का रूप दिया जा सकता है ।

समाचार वस्तु के शीर्षक वर्णनात्मक तथा स्फोटात्मक दोनों प्रकार के होते हैं । रहस्य का उद्‌घाटन करने वाले शीर्षक इस दृष्टि से स्फोटवादी हैं ।

वाक्य ही संकेत माध्यम है ।

संकेत गृह के विषय में कुछ निर्णय आवश्यक होंगे । न्याय, जाति, व्यक्ति तथा आकृति, इन तीनों पर संकेत स्वीकार होता है ।

वाक्यार्थ बोध के लिये पाठकों के मन में आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि का रहना नितान्त आवश्यक है ।

अतः प्रूफ संबंधी सभी गलतियाँ इस दृष्टि से क्षम्य हैं । अर्थ-बोध की कला पाठक को आनी चाहिए ।

इसके सिवाय वह समस्त सामग्री जिसकी उपादेयता इतनी उत्कट रूप से नहीं होती, अन्यथासिद्ध मानी जाएगी । विज्ञापन तथा आवश्यक समाचार के अभाव में दी गई सामग्री, जैसे कविता, महापुरुषों के विचार आदि सब अन्यथासिद्ध हैं ।

दो शब्द

भारत भाषणों के युग से गुजर रहा है। अधिक पेड़ों की तरह अधिक नेता हैं। अधिक अनाज की जगह अधिक भाषण हैं।

संघर्ष और चिन्तन के काल में भाषण लम्बे कम होते हैं और उनमें विचारों की गहराई अधिक होती है। पर इस युग में गहराइयाँ कम और लम्बाइयाँ अधिक हैं।

दुनिया के इतिहास में केवल कुछ इने-गिने काल ऐसे रहे हैं जब कि भाषण हुए। ईसा के पूर्व छठी शताब्दि, सीजर का युग, पुनर्जागृति का काल, अठारहवीं शताब्दि और उन्नीसवीं।

सुमेरियन और सेमेटिक सभ्यता के काल में केवल महन्त ही भाषण देते थे। भाषणों का विषय जादू, टोना, भूत, प्रेत आदि थे। ये भाषण कुछ इस प्रकार के थे कि जिन्हें न वक्ता समझता था न श्रोता।

आज भी साहित्यिक सभाओं में मैंने इस प्रकार के भाषण सुने हैं।

सुमेरियन और सेमेटिकों जैसे महन्तवादी युग की प्रतिक्रिया में ग्रीस, इजराईल, भारत और चीन की सभ्यताएँ आईं। नये प्रकार के भाषण प्रारम्भ हुए।

यूनान के सुकरात तर्क प्रणाली से, और इजराईल के एजेकियल और इसाईयाह, जिन्होंने ईश्वरवाद उभारा, भावुकतापूर्ण सरलता से बोलते थे। भारत में बुद्ध जनभाषा के समर्थक थे, और चीन में कांफुत्से तथा लाओत्से प्रसिद्ध वक्ता थे।

सुकरात और डेमोस्थनीज का युग गुजर गया। रोम की सामाजिक नैतिकता नष्ट हो गई। तब जूलियस सीजर के काल का सिसेरो प्रसिद्ध वक्ता था।

आज के युग के भाषणों में सिसेरो प्रवृत्ति है। ये अधिकांश भाषण सत्ता बनाए रखने के इरादे से अक्सर प्रभावित होते हैं।

पर सुन्दर वक्ता होने के बावजूद सिसेरो मार डाला गया।

प्रजातंत्र के जन्म के साथ भाषण की आदत जोर पकड़ गई। पुनर्जागृति के काल में ल्यूथर, विक्लिफ और शंकराचार्य के भाषणों में चिन्तन की स्पष्ट गहराई थी।

और अब... "आज शाम को सुभाष चौक में नगर कांग्रेस की ओर से एक आम सभा आयोजित की गई है जिसमें अमुक नेता भाषण देंगे।"

अधिकता से सम्मान खत्म हो जाता है। लोग अब भाषणों के श्रोता कम और पारखी अधिक होते हैं। भाषण के बाद में यही सुनाई पड़ता है: बोले अच्छा। खूब फटकारा। पहले आए थे, तब भी अच्छे बोले थे। जनता काफी थी। भाषण शानदार था।

"हां यार, भाषण तो शानदार था। पर मुझे लग रही थी ठंड। मैं तो चला आया।"

याने भाषण में क्या कहा गया, उस वस्तु की ओर ध्यान देना सिर्फ सी. आय. डी. और पुलिस का काम है। जनता तो जैसे संगीत की प्रेमी और पारखी होती है वैसे ही भाषण पारखी होती है।

कोई कोटि का पत्र उठा लीजिए। कम से कम १८ सभाओं की रिपोर्ट और सूचना देता है। यह सुझाव जँचता है कि एक वक्ता विभाग खोल दिया जाए।

स्वतंत्रता आन्दोलन के समय से एक गलती हुई है। नेता वकीलों में से आये, जिनमें भाषण का ही गुण था। यदि किसानों और मजदूरों में से आते तो देश आजादी के बाद बोलता कम और काम ज्यादा करता।

मैं सोचता हूँ कि सरकार प्रत्येक राजनीतिक पार्टी के एक निश्चित संख्या के वक्ता स्वीकार करे और उन्हें रजिस्टर कर ले। इससे देश में आवाज कम और मेहनत ज्यादा होगी।

भाषण भाषण को जन्म देता है। पर जनता अक्लमन्द होती है। जब सिसेरो बोलता था तब लोग कहते थे, क्या सुन्दर बोला, पर जब डेमोस्थनीज बोलता था तो लोग कहते थे—आओ, फिलिप को खत्म करें।

पंचवर्षीय योजना का भाषण पहलू ही नहीं है। सब से बड़ा काम पहलू है। घंटियाँ बजती हैं पर वक्ता चुप नहीं होता। जिस प्रकार रिनेगाँ के युग में "अवर-ग्लास" रखा जाता, पर पादरी बोले जाते।

माना कि भाषण एक कला है। पर फॉक्स, बर्क और ग्लेडस्टन कम भी हों तो देश और युग प्रसिद्ध हो जाता है।

२६ जनवरी को दो शब्द कहना जरूरी है, "मत बोलो"।

देश के लिये दो शब्द जानना जरूरी हैं, "काम करो।"

कविता और नगर सेविका

सुन्दर नगर और सुन्दर कविता का बहुत निकट का, सड़क और फुटपाथ का सम्बन्ध है।

भारत के दार्शनिक तथा अन्य आध्यात्मिक मसले तो जंगल में तय हुए, वहीं वे लिखे गए, पर कविता को नगर का वातावरण मिला। मैं दर्शन को जंगली विषय मानता हूँ। उसे पढ़ने वाला ऐसा हो जाता है, जैसे कोई जंगल में रास्ता भूल गया हो। विचारों में प्रायः मनुष्य इस कारण खो जाता है कि उसका दिमाग अपरिचित क्षेत्र में होता है।

जबकि कविता पढ़ने पर ऐसा लगता है, जैसे जेलरोड पर खड़े हों। एक आई, एक गई।

आदिकवि वाल्मीकि चाहे जीवन भर जंगल में डाकू या साधु बनकर रहा हो, पर उसकी रामायण नगरों की कथा है। उसके नायक, नायिका व खलनायक, सब का क्षेत्र नगर था।

बाद के सभी कवि लीजिए, कौन भकुआ शहर छोड़ कर भागा है। वे शहर का सौंदर्य वर्णन कर प्रेरणा पाते रहे। साफ सड़कें, लिपे पुते मकान, शिष्ट नागरिक आदि के वर्णनों में उनकी अनेकों पंक्तियाँ नष्ट हुईं।

कालिदास का यक्ष अपने मेघदूत को इन नगरों में थोड़ी देर रुक कर देखने के लिए कहता था।

वीरगाथा काल में कविता शहर की दरबारी चहारदीवारी में रही।

भक्तिकाल में वह तीर्थों में घूमती फिरी। साफ स्वच्छ घाट और नदिया का कीड़ोंरहित जल उसे प्रिय था। रहा जमुना के किनारे के कुंजों का सवाल, तो वे भी एक तरह के पार्क थे। आज भी बगीचों में जो हो जाता है, वह राधा-कृष्ण के कुंज-मिलन और राम सीता की पहली मुलाकात जैसा है।

और रीतिकाल तो शहर के बाहर असम्भव था। आधी रात को पिय से मिलने, गली-गली जाती, प्रहरी से भय खाती अभिसारिका नायिका कविता का प्रिय विषय रही है।

मैं मरियल प्रवृत्ति 'छायावाद' का भी कारण नगर मानता हूँ। यू. पी. के प्रयाग और बनारस सरीखे शहरों की गंदी-गंदी गलियाँ, ऊबड़-खाबड़ रास्ते, धुएँ और घुटन के धूमिल वातावरण ने उस युग के कवि को एकाकी, निराश और चुपचाप कमरे में बैठने वाला अन्तर्मुखी मूरख बना दिया।

काव्य की इस प्रवृत्ति का कारण वहाँ की कमजोर म्युन्सीपाल्टी थी। कवि उस वातावरण से भाग जाना चाहता था। इसी से पलायनवाद का उदय हुआ।

चिरगाँव जिला झाँसी के कवि ने साकेत लिखा। सुन्दर नगर की कल्पना की। 'देख लो साकेत नगरी है यही, स्वर्ग से मिलने गगन में जा रही।'

प्रगतिवादी कला छायावादी अंतर्घुटन के खिलाफ विद्रोह थी और उसकी जड़ों पर चोट। उधर साफ नगर बनाने का आन्दोलन चला और इधर इस गंदे वातावरण पर भी काव्य ने प्रहार किया।

निराला को पत्थर तोड़ इलाहाबाद के पथ का निर्माण करने वाली ने प्रेरणा दी। पंत ने 'नव नव' शब्द की ध्वनि निकाली और निर्माणकारी साहित्य का सृजन हुआ।

नई कविता पर भी नगर सेविका का प्रभाव है। फुटपाथ पर सोने से कवि रोकता है, 'मधुर नींद का वेग पिछले पहर में, कहीं अंत में सो न जाना डगर में।'

शिवमंगलसिंह सुमन ने अपने प्रेम का कारण मुन्सीपाल्टी समझा-- 'मैं नहीं आया तुम्हारे द्वार, पथ ही मुड़ गया था।'

आजादी आई। अज्ञेय ने अपनी आलोक मंजूषा में नगरों को चेताया, 'सुनो हे नागरिक!...अभिनव सभ्य भारत के नये जनराज्य के, पला है आलोक चिर दिन यह तुम्हारे स्नेह से, तुम्हारे ही रक्त से, तुम्ही दाता हो, तुम्ही होता, तुम्ही यजमान हो, यह तुम्हारा पर्व है।'

नई कविता नगर से प्रेरणा पाती है। गिरिजाकुमार माथुर का उदाहरण लो, "घंटियाँ बज रही रिक्शों की, बीसियों साइकलों की पाँतें, केरियर टोकरी या हेंडिल में, कुछ के खाली कटोरदान बँधे, कुछ में हैं फाइलें भूखी, जो न कभी खत्म हुई आफिस में", आदि।

मैं कविता के विकास का कारण नगरपालिका का कार्य मानता हूँ। नहीं तो कवि व्यंग्य लिखता है इस युग पर।

ग्वालियर की सड़कों गलियों की हालत किसी से छिपी है? वहाँ के कवि वीरेन्द्र मिश्र लिखते हैं, 'है पंथ बड़ा कठिन मैं चलता हूँ, रुकने से निर्माण नहीं हो पाता।'

और जूते

मियाँ की जूती जब मियाँ के सर पड़ती है तो यह दुख की बात नहीं है, क्योंकि यह अपमान न होकर प्रेम और सौभाग्य की पहचान है। और यदि बीबी की जूती पड़े तो इससे बढ़ कर खुशी की कोई भी चीज नहीं।

आज हम नए समाज की सृष्टि कर रहे हैं, और पिछले युग की समस्त अच्छाइयों को फिर से अपने जीवन में जोड़ रहे हैं, तो जूतों को भी प्रेम का प्रतीक बनाना पड़ेगा।

सिर की समस्या आज नहीं है। वहाँ खादी की टोपी है, जो कुछ अप-वादों को छोड़कर, ईमानदारी की पहचान है।

जब प्रेम बढ़ता है तो जूते पैर से निकल आते हैं। क्योंकि जूते रहने न रहने का प्रेम होने न होने से गहरा सम्बन्ध है।

प्रेमियों के पैरों की उपमा फूलों से दी जाती है, और फूलों पर कभी खोल नहीं चढ़ती। प्रेम के पथ में काँटे आते हैं। याने प्रेम के पथ पर कभी जूते पहन कर नहीं चला जाता। काँटा पैर में जो लगता है! कहती है, "काँटा लागो रे साजनवा!" प्रीतम काँटा निकालता है और प्रेम का जन्म होता है।

इसलिए जरूरी है कि प्रेम के मार्ग में चप्पल हाथ में लेकर चलो। कृष्णचन्दर की कहानी के चमार नायक की तरह प्रेमिका की जूतियाँ पास चिपका कर मर जाओ।

हनीमून पर जो वाहन जाता है, उसके पीछे जूते या सेंडिल बाँध देने की प्रथा रही है। प्रेम के साथ जूते बहुत जरूरी है। 'काली घटा' चित्र में किशोर साहू को ख्वाब में बीना राय के जूते नजर आते हैं।

पहले योरोपीय देशों में पत्नि के प्रेम प्रदर्शन का एक मात्र तरीका यही था कि वह अपने हाथों से पति के जूते खोल बिस्तर पर रख देती थी।

कहा जाता है कि एलिजाबेथ के युग में सौभाग्य व प्रेम के प्रदर्शन के लिए एक दूसरे की ओर जूते फेंकने की प्रथा थी।

जूते में दाल बांटना कभी स्नेह की निशानी रहा होगा। दाल भी तो प्रेम की प्रतीक है। नारी अर्धांगनी होती है, जैसे चने की एक दाल हो।

रांझा के घर आने पर हीर कहती है–"बारही बरसी रांझा घर आया, मोती कुट कुट में दाल घरां"।

"बारह बरस में आज रांझा घर आया है, मोती कूट कूट मैं दाल चढ़ा रही हूं।"

तो जूतों में दाल बंटने में प्रेम है। तात्पर्य प्रेम में व्यक्ति के परेशान होने से है। बाद में अर्थ बदल गए।

जूतों का खराब अर्थ शायद फ्रांस की राज्यक्रांति के समय से लिया गया है। तब पीटने के लिये एक दूसरे पर जूते फेंके गए। अंग्रेजी का "सेबटाज" शब्द शायद "सेबट" से निकला है, जिसका अर्थ जूते की एड़ी होता है।

तभी से जूते फेंकना गलत चीज हो गई है। पर अब हमें इस पुनरुत्थान और निर्माण के युग में जूतों को फिर से मोहब्बत के झण्डे पर खास निशान बनाना पड़ेगा।

यदि किसी लड़की ने लड़के को देख हाथ में चप्पल ली, तो मानना चाहिए कि अब प्रेम का आधिक्य हो गया है।

और प्रेमियों को चप्पल उतार खड़ी लड़की को देख धर्मवीर भारती की याद करनी चाहिए, "शरद के उजले धुले से पांव मेरी गोद में, ये कमल की छाँव मेरी गोद में।"

प्रेम की चाल जूतों से बनती है। पंजाबी लोक गीत की पंक्ति है: "जे तें मेरी चाल देखनी, मेरी जूती नूं लवां दे घुंघरू।" (यदि तुझे मेरी चाल देखनी हो तो मेरी जूती में घुंघरू लगा दे।) नायक कहता है: "जूती ले दूं तुम्हें घुघरूयां वाली, भमां मेरी जिंद बिक जै।" (यानी मैं तुम्हें घुंघरू वाली जूती ले दूंगा चाहे मेरा जीवन भी क्यों न बिक जाए।)"

मोर मोरनी प्रेम से नाचने के बाद अपने काले पैर देखकर क्यों दुख मनाते हैं, रोते हैं,—शायद प्रेम के लिए।

नाल को सौभाग्य का प्रतीक क्यों माना जाता है? अपने जब घर नहीं लौटने तो जूता क्यों उलटाया जाता है? सब के पीछे बड़ी गहरी बातें हैं।

प्रेम के देवता "क्यूपिड" को सदैव नंगे पैर क्यों बताया जाता है?

कालिंजर के शासक

एक दिन राजा राम के द्वारपाल ने देखा कि एक कुत्ता महल के सामने आकर दुहाई दे रहा है और राम से मिलना चाहता है। द्वारपाल ने उससे पूछा कि तुम्हारा क्या दुःख है, मुझसे कह दो, मैं राम तक पहुँचा देता हूँ।

कुत्ते ने उत्तर दिया, नहीं, मैं राजा राम से बात करना चाहता हूँ। द्वारपाल ने राम से जाकर कहा तो राम ने आज्ञा दी कि कुत्ते को यहीं भेज दो।

द्वारपाल से यह सूचना मिलने पर कुत्ते ने उत्तर दिया कि मैं दरबार में नहीं आ सकता, अपनी मर्यादा नहीं छोड़ सकता, मैं तो कुत्ता हूँ; राजा राम से कहो कि वे बाहर आ जाएँ। द्वारपाल ने कहा तो राम बाहर आए।

कुत्ते ने कहा, राजा राम ! मुझे एक साधु ने बुरी तरह मारा है, आप उसे सजा दें। राम ने कहा कि तैने कोई गलती की होगी। कुत्ते ने कहा कि मैंने कोई गलती नहीं की।

राजा राम ने साधु को बुलवाया और उससे पूछा।

साधु ने अपनी गलती स्वीकार की। राम ने अपने दरबारियों से पूछा कि इस साधु को क्या सजा दी जाए ? दरबारियों ने कहा कि इसका निर्णय कुत्ते पर ही छोड़ दिया जाए ! राजा राम ने कुत्ते को सजा घोषित करने को कहा।

कुत्ते ने कहा कि भगवान, इसे कालिंजर का शासक बना दिया जाए। साधु को कालिंजर का शासक बना दिया गया। सब को कुत्ते के इस निर्णय पर आश्चर्य हुआ। दरबार समाप्त होने पर राम ने कुत्ते से पूछा कि तैने बजाय सजा देने के इसे इतना बड़ा सम्मान क्यों दिला दिया ?

कुत्ते ने उत्तर दिया कि कालिंजर का शासन करने में इतने धन की प्राप्ति होती है कि मनुष्य लोभ किए बिना, अपने चरित्र और मति को भ्रष्ट किए बिना, रह नहीं सकता। वह पद ही ऐसा है। मैं भी पूर्वजन्म में कालिंजर का शासक था और फिर कुत्ते की योनि पाई। यह साधु भी

वहाँ धन पाकर अपनी साधुता छोड़ेगा और बाद में कुत्ता बनेगा।

भारत में प्रजातंत्र का मतलब, मेरे विचार में ज्ञानी नेता एक प्रणाली से अधिक नहीं समझते। जनता को पटा कर वोट गिरवा असेम्बली में जाना, और गुटबन्दी से मंत्री बनना, यही प्रजातंत्र है।

जनता फिर पशु मात्र है। जिधर धकाओ जाएगी।

परन्तु उस मूक पशु ने तुम्हे कालिंजर का शासक बनवाया है। उस परिस्थिति में साधु साबित कर रहा है कि उसे नई योनि में जन्म लेना पड़ेगा।

ऊँचा पद कुछ होती ही ऐसी चीज है जिसमें मन का दबा पाप कार्य का रूप लेता है।

भारत में प्रजातंत्र होने पर भी ऐसी दुर्घटनाएँ हुई हैं, जिनमें कई जो साधु थे वे ऊँचे पद पा गए। और आज इसके परिणाम आप देख ही रहे हैं। अगली योनि प्राप्त होने पर तो हम इन्हें पहचान भी नहीं सकेंगे। आधी रात को इनकी आवाजें सुनकर हमें पुराने सुने भाषणों का ख्याल भी नहीं आएगा।

प्रजातंत्र की मृत्यु तभी होती है जब दिमाग टोपी से आगे विकास नहीं पाता, हृदय शेरवानी के घेरे में रहता है और पैर कार की ओर जाने के सिवाय कोई मार्ग नहीं पाते।

यही चीज अहं संकीर्णता लोभ मोह और कुल मिला कर मूर्खता का कारण होती है।

हमारे प्रजातंत्र में जनता की नजर में शासन और शासन की नजर में जनता दोषी हैं। शासन में भी मंत्री समझता है कि अच्छे काम सब मैंने किए और गलतियाँ सब दूसरे अधिकारियों ने की।

ऊँचे अधिकारी क्लर्कों और मंत्रियों को मूर्ख मानकर ही चलते हैं। और सम्मिलित निर्णय यह है कि खुराफाती तो विरोधी है और कोई नहीं।

शृंगार में वाद

रेशमी साँझ और सुहानी सुबह को बनाने में योग लेने के बावजूद इस विषय का कभी ऐतिहासिक विश्लेषण नहीं हुआ ।

यह बात नहीं है कि इस ओर आँख उठती ही न हो । आँख तो सब विषय छोड़ उधर ही उठती है, पर दिमाग काम नहीं करता । बात ऐसी ही है जिसका दिमाग से कम और पागलपन से अधिक सम्बन्ध है ।

नारी–शृंगार में भी सामाजिक तत्व है और वे ऐसे ही है जैसे कविता में । गोता लगाने पर शब्दों के प्रवाह में वाद नजर आता है और विचार करें तो वस्त्र के शृंगार में भी वाद का पता लग सकता है ।

प्रागैतिहासिक युग में जब मनु और शतरूपा, आदम और हौवा की औलादें धरती पर घूमती थी, तब शुद्ध 'उपयोगितावाद' था । पत्ते, पेड़ की छाल, तन ढकने को पहनी गई । अब यह दूसरी बात है कि उसमें सौंदर्य आ जाए । अनायास अच्छी लगने वाली चीजें प्रायः तन पर आ जाती थीं ।

पर जैसे ही नारी पति के बन्धन में आई और पति ही उसका सब कुछ बना, आर्थिक कारणों ने शृंगार में 'पतिवाद' को जन्म दिया । 'प्रिय मन भाई' इसका मूल बिंदु था और वही वस्त्र वही रंग पहना जाता जो पति की पसन्द हो ।

पतिवाद के परिणाम स्वरूप शृंगार पर, जो नारी का अपना व्यक्तिगत मामला है, पुरुष हावी हो गया । इससे विभिन्नता और वैविध्य का बोलबाला बढ़ गया किन्तु नारी भावना और पसन्द को पति के अपने व्यक्तित्व के अनुसार सम्मान भी मिला ।

इसी के साथ एक और प्रवृत्ति आई जिसे हम 'समाजवाद' कहेंगे । पूरे समाज की आँखों को तृप्त रखना ही शृंगार का लक्ष्य मानना इसका मूल भाव है ।

पर चूँकि सामयिक परिस्थिति प्रतिकूल थी, अतः प्रायः समाजवाद की परिणति पतिवाद में होती देखी गई ।

प्रत्येक कुँवारी समाजवादी ध्येय से शृंगार करती थी और विवाह होने के बाद पतिवाद को स्वीकार कर लेती थी। केवल अन्यथा परिस्थितियों में समाजवादी शृंगार आगे बढ़ पाता था।

समाजवाद की इस प्रवृत्ति के साथ ही दो बातों पर और भी ध्यान जाता है। एक तो 'व्यक्तिवादी' प्रवृत्ति जिसने शृंगार में न तो समाज की चिन्ता की, और न पति की, नायक की। जो मन चाहा वह किया। पर व्यक्तिवाद का ध्येय अपने प्रति अतिरिक्त आकर्षण का निर्माण करना ही है।

दूसरी प्रवृत्ति थी 'आदर्शवाद', जिसका उद्देश्य भी समाज से सम्मान और सहानुभूति पाना ही माना जाना चाहिए। एक निश्चित रंग और और गुण के वस्त्र पहनने का संकल्प कर उसे जीवन भर निभाना, यही आदर्शवाद है।

पर जिस प्रकार सदैव आदर्शवाद को पसन्द न कर औसत रुचि क्रांति की ओर उन्मुख रहती है ठीक वैसे शृंगार में यह फीका आदर्शवाद भिक्षुणियों और सामाजिक कार्य सेविकाओं तक ही रहा।

कहीं आदर्शवाद के जैसी ही अनुशासन की मजबूरी से शृंगार हुआ। यह व्यक्तिवाद के विरोध की धारा है और अनेकों तक फैली होने के कारण साधारण हो गई है।

प्रायः समाजवादी शृंगार संकीर्णता, प्रान्तीयता तथा क्षेत्रीयता के कारण कुछ विशेष रंगों कपड़ों व तरीकों तक सीमित रह गया। पतिवाद ने बुर्के की नौबत ला दी। सास बहू बेटी सब एक से कपड़ों को सदैव तन पर से दुहराने लगीं।

इधर अंतर्राष्ट्रीय प्रभाव नई डिजाइनों और आकर्षणों में प्रति मिनिट वृद्धि कर रहा है, और उसके परिणाम स्वरूप दकियानूसी, संकीर्ण शृंगार प्रणाली पर प्रभाव पड़ने लगे हैं।

रंगों में प्रयोग हुए, डिजाइनें बनी। व्यक्तिवाद सी बात होने पर भी इसे 'प्रयोगवाद' कहना ही ठीक है। प्रयोग अपने आप में लक्ष्य नहीं होता, 'शृंगार शृंगार के लिए' की भावना व्यर्थ है।

तो आज नारी शृंगार प्रयोग के युग से गुजर रहा है। पहले भी प्रयोग हुए हैं। जब संक्रांति काल आता है तो प्रयोग की ओर ध्यान जाता है।

इस प्रयोग में कभी गला खास ढंग से कटता है, कभी साड़ी की छपाई अलग ढंग से होती है। कभी सेंडिल नया आकार लेते हैं, कभी खास जगहें काढ़ी जाती हैं।

यह प्रवृत्ति बन बन कर खत्म हो जाती है। पुरानी को जीवित किया जाता है। देखना है कि भविष्य क्या होता है।

नवनीत और कटाक्ष

पुरुष का साथी है नवनीत ! मासिक पत्र नहीं, दूध से निकला शुद्ध और चिकना, जो हाव भाव की नम्र अभिव्यक्तियों में पिघलता है और सामने के पाषाण को नरम कर देता है ।

हर जगह भेद है, ऊँचाईयाँ है, निचाईयाँ है, और हर व्यक्ति किसी दूसरे के पैर के नीचे दबा हुआ है । यही मीठे स्वरों की सरलता, नवनीत-व्यवहार तब कटुता को समाप्त करता है और नीचे को ऊँचे के पास लाता है ।

पर क्लर्क या मास्टरों में पुल्लिग और स्त्रीलिंग दोनों श्रेणियाँ होती हैं । नवनीत या कहें कि मक्खन पुरुष श्रेणी का अहिंसात्मक अस्त्र है । पर वह महिलाओं के लिए अनुपयोगी है ।

महिला-क्लर्क अपने दफ्तर के कबूतरखाने में नारी स्वाधीनता का झण्डा लेकर घूमती है । अपनी एड़ियों को श्रम के भार से टिकाती है और उसके चेहरे पर चाँदी और मेहनत की मिली जुली लालटेनें दमकती हैं ।

मक्खन उसका औजार नहीं है, उसकी छेनी नहीं है, जिससे सामने वाली मूरत को जैसे चाहे गढ़ ले, रूप दे दे । यह पौरुषेय कौशल है ।

तब महिला का साधन क्या ? उसका साधन है "कटाक्ष ।"

वह शासकीय, दफ्तरी तथा वैयक्तिक पहाड़ियों को कटाक्ष से चीरती हुई आगे बढ़ती है । बस कटाक्ष ही उसके सभी रास्तों की उपयुक्त लाठी है ।

मक्खन नारी की प्रतिष्ठा को गिराता है । पुरुष को कुछ दूसरे कोणों से सोचने के लिए मजबूर करता है और कह नहीं सकते कि भविष्य कैसा रूप ले ले ? शायद यह मक्खन जो वह आज लगा रही है, कल विष बनकर स्वयं के शरीर में उतर आए । बेमतलब में राहगीर नायक बन जाए और एक उलझन सुलझ कर सदैव के लिए उसे अपने में बाँध ले । सो मक्खन उसका मार्ग नहीं है । वह तो पुरुष को ही मुबारिक हो ।

वह अपना कार्य कटाक्ष से चलाती है, जो कि ईश्वरदत्त शस्त्र है, तथा ९७ प्रति शत पुरुष, ९७ प्रति शत परिस्थितियों में उससे हार जाते हैं।

मेरे अकेले पाठक जी ! आप याद कीजिए कि सिर्फ कटाक्ष के कारण ही आपने महिलाओं के कितने काम कर दिए। कटाक्ष के साथ वह पानी माँग रही है और आप ग्लास लेकर घड़े की तरफ जा रहे हैं। कटाक्ष के साथ उसने आपसे इम्पॉरटेन्ट प्रश्न पूछे और आप परीक्षकों को मक्खन लगा कुछ उगलवाने में व्यस्त हो गए।

पुरुष अगर कटाक्ष मारेगा तो बेवकूफ बन जाएगा। लड़की अगर मक्खन लगाएगी तो कहीं की नहीं रहेगी। शस्त्रों में अदला बदली न करें तो दोनों बहादुर हैं।

अब सोचिए कि यह संयोजन कितना सुन्दर है जो एक सामाजिक सौख्य-दर्शन की ओर सोचने के लिए हमें प्रेरित करता है।

एक ओर से कटाक्ष होते रहें, एक ओर से मक्खन बढ़ता रहे, बस जीवन सफल है। कहीं कोई दुराव नहीं, दर्द नहीं, दमा नहीं, दुर्दशा नहीं, दूसरापन नहीं। आपके यह व्यवहार गृह नीति और विदेश नीति दोनों में सफल रहेंगे। और जब विदेश नीति-गृह नीति के आधार समान होते हैं, तब आदर्श रूप लेता है।

कहते हैं पुरुष-नारी दोनों समाज की गाड़ी के पहिये हैं। अगर एक पहिया कर्तव्य और व्यवहार के मार्ग में पंचर हो गया तो गए भाड़ में। आप दोनों साथ बढ़ रहे हैं। उसके कटाक्षों को तीव्रतर होने दीजिए, आपके नवनीत की मात्रा बढ़ाए जाइए।

हाँ, यह अनुभव भी आपको हो ही जाएगा कि कटाक्ष की छुरी मक्खन काट देती है।



आन गाँव के सिद्ध

कई बार बात सच होती है और कहावत झूठ पड़ जाती है ।

इमर्सन चाहे कहावतों को तर्क का साहित्य कहे, टेनिसन चाहे उन्हें भाषा का अलंकार माने, बेकन उन्हें राष्ट्र की बुद्धि बताए, सरवेन्टीज अनुभवों का निचोड़ कहे और जॉनसन समाज के लिए उनका होना कितना ही आवश्यक समझता हो ।

पर सदैव कहावत सच नहीं होती । मैथ्यू की बात मानना पड़ती है कि कहावत जोड़े से बिकना चाहिए; एक कहावत केवल सत्य का एक पहलू देती है ।

जैसे एक कहावत है कि घर का जोगी जोगड़ा, आन गाँव का सिद्ध । इस कहावत ने आकर बड़ी गड़बड़ पैदा कर दी ।

गाँव के सिद्ध जोगीड़े हो गए । बाहर के जोगीड़े सिद्ध हो गए । जबकि प्राय: ऐसा होता है कि गाँव के जोगी गाँव में ही सिद्ध हो जाएँ और बाहर के सिद्ध गाँव में आकर जोगीड़े साबित हों ।

गाँव के जोगियों को प्राय: यह डर रहा है कि कहीं बाहर का व्यक्ति आकर यहाँ सिद्ध नहीं बन जाए, सो वे सदा प्रचार करते हैं : "दूर के ढोल सुहावने लगते हैं ।" "दूसरे की पत्तल मीठी लगती है ।" "क्या काबुल में गधे नहीं होते ?" वगैरा ।

पर अनुभव यही है कि आयात में बड़ा आनन्द है । यहाँ के अंगूर खट्टे हैं, चमन से मँगाओ । यहां के सन्तरे बेकार हैं, नागपुर से मँगाओ ।

स्टेशन पर एक परिचित मिले । बरात ले जा रहे थे बिलासपुर । 'भई इन्दौर में तो अच्छी लड़कियाँ हैं नहीं । (कहने वाले के मुँह में आग) सो बरात बिलासपुर जा रही है ।'

अज्ञात देश की सुन्दरियाँ बड़ी अच्छी लगती हैं । रवीन्द्र कहते हैं 'आमि सुदूरेर पियासा', मैं सुदूर का प्यासा हूँ ।

कवि सम्मेलन आयोजित किया जाता है । स्थानीय सब आएँगे । पर

रंग नहीं जमेगा। बाहर का बुलाइए। सुरखाब के परों से उड़ता हुआ आएगा।

महाविद्यालय की कक्षाओं में रोज प्रोफेसर ज्ञान बरसाता है। साहित्य और कला की गहरी गठानों को खोलता है, पर लड़कों का ध्यान नहीं, पीरियड छोड़ देते हैं। बाहर से आकर कोई बोलेगा, तो हॉल ठसाठस भरा है।

परदेसी ज्यादा अक्लमंद, ज्यादा प्यारा होता है। सुन्दरियाँ पथिक की प्रतीक्षा करती हैं। गाँव के युवक कहते हैं 'जी, क्या फूस का तापना क्या परदेसी का प्यार ?' पर युवतियाँ कहेंगी, 'आज मम अन्तर माझे, कोया पथिकेर पगधुलि बाजे।'

मेरा मतलब है कि दिल और दिमाग दोनों बाहर को बहुत ज्यादा चाहते हैं। 'मेरो मन अनत कहाँ सुख पावे' व्यर्थ है।

सेक्रेटरी रिटायर हो रहा है। यहाँ तो कोई काबिल नहीं है। बाहर से बुलाओ। यू. पी. या बम्बई का व्यक्ति आएगा। लोग कहेंगे, जी, तुम सा विद्वान न देखा, न सुना।

अपने यहाँ के को सम्मान नहीं है। नया जवान पुलिस इन्सपेक्टर बना है। सब कहेंगे, 'अजी, कल तक यहीं धक्के खाता था। आज बड़ा वर्दी पहन अकड़ता है।'

इसी को दूर भेज दीजिए, बड़ा प्रभावशाली और काबिल साबित होगा। इसी कारण जैसे ही किसी डिपार्टमेंट में ढील आई कि तबादले शुरू हो जाते हैं।

चुनाव आ रहा है। समझ नहीं पड़ता पार्टी को कि क्या करें। स्थानीय शहनाइयाँ तूती नजर आती हैं। सबको परखा जाता है पर बेकार. . .!

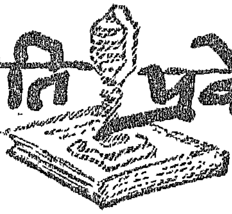
बाहर से पार्टी का व्यक्ति आता है। अच्छे भाषण देता है। वोट पड़ जाते हैं। आदमी जीत जाता है। पार्टी मूँछें मरोड़ती है कि देखा हमारा प्रभाव जनता पर कितना है।

अतः आयात सदैव अच्छा होता है वह चाहे किसी भी क्षेत्र में हो। दूर की कौड़ियाँ ले आइए, लोग वाह वाह कहेंगे।

काश ऐसा मिनिस्टरों में भी हो। जब प्रान्त में मिनिस्टर न प्रभावशाली हों न काबिल, तो बाहर से क्यों नहीं बुलवा लिए जाएँ।

इंजीनियरों, सेक्रेट्रियों, प्रोफेसरों के फार्मूले मिनिस्टरों पर लागू क्यों नहीं होते ? स्वर्ग से उतरी भागीरथी घर की नदियों से ज्यादा पूजी जाएगी।

राजनीति प्रवेशिका



नेता बन जाते हैं, या बनाए जाते हैं, यह प्रश्न जरा गंभीरतापूर्वक सोचने का है।

कवियों के विषय में ऐसा सुना जाता है कि उनमें ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा होती है। नेताओं में भी नेतृत्व-गुण जन्मजात होता है अथवा जनता प्रदत्त होता है, यह विचारणीय विषय है।

नेहरूजी ने कई बार कहा है कि प्रत्येक धंधे के लिए हर व्यक्ति को कुछ पाठ पढ़ाने होते हैं, थोड़े शिक्षण की आवश्यकता होती है; पर राजनीति में आदमी कूद पड़ता है, और धीरे धीरे बड़ा नेता बन जाता है।

नेहरूजी के ऐसा कह देने से नए नए नेताओं तथा राजनीति में कुछ कर गुजरने के उम्मीदवारों के मन में विश्वास बँधता है।

भारत में नेता वर्ग का जहाँ तक प्रश्न है, अभी तक तो ट्रेनिंग सरीखी कोई चीज नजर नहीं आई। भारत में अधिकांश जनता क्योंकि अपढ़ है इसलिए जनता के नेता का पढ़ा लिखा होना आवश्यक नहीं था।

पर युग जनतंत्र का है और हमें एक योजनाबद्ध भविष्य का निर्माण करना है। इस कारण राजनीति में प्रवेश करने वालों को सही तरीके से शिक्षण देना चाहिए।

पूत के लक्षण यदि ध्यान से देखो तो पालने में नजर आते हैं। चित्रकार बचपन में आड़ी टेढ़ी लकीरें बनाने लगता है। नेता बनने वाला बालक बड़ी जल्दी मोहल्ले का लीडर बन जाता है।

इसी समय से मनोवैज्ञानिक तरीकों से बालक का विकास किया जाए।

ब्रह्मपुत्र राजनीति प्रवेशिका की एक रूपरेखा सी प्रस्तुत कर सकता है। आगे टंडन जी तथा काका कालेलकर निश्चित योजना बनाएँ तथा जनतंत्री सरकार उसे अमल में लाए।

शब्द ज्ञान के साथ ही साथ बालक से राजनीति के प्रमुख पहलुओं का

परिचय कराया जाए। उदाहरण क लिये क कांग्रेस का, ख खादी का, ग गाँधी का, घ घोषणा पत्र का; इसी प्रकार आगे च चुनाव का, भ भत्ते का, द दौरे का, आदि।

गिनती सिखाते समय भी सभापति एक होता है, सदन दो होते हैं, तिरंगा तीन रंग का, आदि बातें बताई जाएँ।

इस प्रकार से ही आगे जाकर सारी पार्टियों के इतिहास, नेताओं की लिखी किताबें, प्रजातंत्रीय व्यवहारिकता बताए जाएँ।

नेताओं को सब का कुछ कुछ जानना आवश्यक है। प्रसिद्ध कहावत की तरह "जेक ऑफ ऑल ट्रेड" व "मास्टर ऑफ भाषण" होना जरूरी है।

कौन जानता है कि किस वक्त कहीं भाषण देना पड़े, किधर की योजना रखनी हो।

इस ट्रेनिंग के द्वारा जनतंत्र अधिक मजबूत होगा तथा भविष्य सुयोग्य व्यक्तियों के हाथों में होगा।

आज ऐसा है कि नौसिखुए नेता बनते हैं, भलेमानस नेता बनते हैं; इसके बजाय नेता ही नेता बनेंगे।

समस्या यह है कि आखिर सरकार जाने कैसे कि कौन से मोहल्ले के कौन से घर में देश का भावी नेता है।

इसके लिए एक योजना अखबारों के सहयोग से सरकार प्रारम्भ कर सकती है।

भविष्यफल के साथ जो 'आज के दिन जन्मे बालक का भविष्य' प्रकाशित होता है, उसे शासन अपनी नजर में रखे। जिस बालक में नेता होने के लक्षण नजर आते हों उसे विशेष प्रकार की ट्रेनिंग दे।

ब्रह्मपुत्र का विश्वास है कि अगले बजट सत्र में इस मद के लिए भी खर्च की रकम अलग रख दी जाएगी।

परीक्षार्थिनी का पति



आजकल इम्तहान के दिन हैं, उँगलियाँ काली किए, हाथ में पर्चा ले, ज्ञान के मारे प्राणी सड़कों पर आते जाते दीख पड़ते हैं। जीव दोनों सेक्स के, और हर सेक्स का समस्या को झेलने का अपना तरीका होता है।

पर इन सभी प्रकारों में सब से विचित्र प्रकार होता है उस विवाहिता महिला का, जो पति के आग्रह और अपने कुँवारे काल की उमंग दुहराने परीक्षा में बैठ रही है।

साथी परीक्षा देने वालों में उसे विवाहिता जान कोई विशेष सहयोग देने की उत्सुकता नहीं बतलाता। घर का काम धंधा तो करना ही होता है, क्योंकि देवर और ननद परीक्षा में बैठ रहे हैं। पति को दफ्तर जाना है, और सास आगे पढ़ाई लिखाई करने के पक्ष में ही नहीं है।

पर पति पढ़ा-लिखा है, चाहे थर्ड क्लास ही क्यों न हो, और वह पत्नि को और पढ़ा लिखा देखना चाहता है। रूप की उठान को ज्ञान की ढलान से पूर्ण करना चाहता है। अन्तर में छिपी आशा यही है कि इसे भी कहीं की मास्टरनी बना देंगे, और ऊपर से कहता है, शिक्षा जीवन के लिए आवश्यक है!

पत्नि जानती है कि अगर पढ़ूंगी तो चार साथवालियों में शान रहेगी, जरा घर से बाहर भी निकलूंगी, पति इज्जत से देखेगा, श्रद्धा से प्रेम करेगा, सो वह भी बच्चे को सुलाने के लिए गोद हिलाती हुई सोचती रहती है, "क्या वास्तव में मोहम्मद तुगलक पागल था?"

एक बात का भय उसके मन में बार बार जग आता है। स्कूल में पढ़ने वाले लड़के इम्पॉरटेन्ट जानते हैं, उन्हें अगर पर्चा आऊट भी हुआ तो मुझे कैसे पता लगेगा? वह अपने पति से किसी उपयुक्त साथी को खोजने का आग्रह करती है। पति अपने मित्र के छोटे भाई को खोज कर लाता है— वह छोकरा जो कहे वही विवाहिता परीक्षार्थिनी की गीता है।

इसके बाद एक उलझन ऐसी है जो रात के साढ़े नौ बजे बाद से शुरू

होती है। पत्नि पढ़ रही है, पति लेटा हुआ है। बीच-बीच में वह कुछ इधर उधर की बातें छेड़ता है, पत्नि संक्षेप में उत्तर देकर फिर चुप हो जाती है। पति करवट बदल लेता है।

फिर उलझन शुरू होती है। वह अपने बी. कॉम. पति से एक अंग्रेजी ईडियम का अर्थ पूछती है, वह परेशान हो जाता है। उसकी अक्ल की परीक्षा का काल आता है। फिर वह बीज गणित का एक प्रश्न मुस्कराती हुई पास आकर पूछती है।

वह हल करने की चेष्टा करता है, और बाद में कहता है, एलजेब्रा में मैं हमेशा कमजोर रहा। गणित में हमेशा कम नम्बर आते थे। फिर हमारे वक्त एलजेब्रा भी दूसरा चलता था।

वह खुद भी मूर्ख कहाना नहीं चाहता और साथ में उसे पता भी नहीं है। जैसे तैसे उसने मेट्रिक किया था। कह देता है-- अब तक सब भूल गया। पत्नि चुपचाप रजाई ओढ़ लेती है।

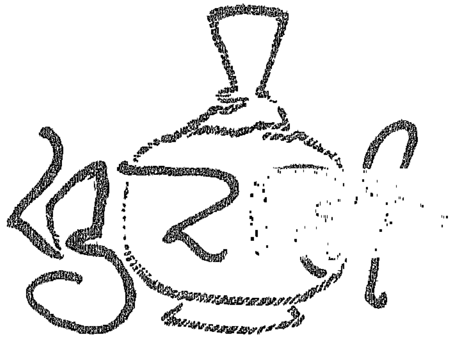
इम्तहान के दिन वह अच्छे कपड़ों में रोज सेंटर तक पत्नि को छोड़ने और लेने जाता है। रास्ते भर वह कठिन प्रश्न--पत्र की शिकायत पति से करती है। कुछ न समझ में आए प्रश्नों का क्या उत्तर दिया, बताती है। तब पति अपना ज्ञान बघारता है।

प्रायः सुनसान रातों में जब सारा घर खर्राटे लेता रहता है, वह धीरे से अपने पति की बनियान में आँखें गड़ाए पूछती है--हूं पास हुई जाऊंगी? वह हाँ कहकर आखें मूँदता है। वह फिर कहती है, "नी सच्ची को हूं पास हुई जाउंगी ?"

रिजल्ट वाले दिन वह अखबार के दफ्तर से कुछ दूर आते जाते को रोक कर कहता है, "प्लीज जरा यह भी देख लेना, एक नम्बर प्लाज।"

"किसका नम्बर है यह ?"

वह शरमा कर मुस्कराता है, "मेरी वाईफ का है।"



आगरा सिर्फ ताज महल की वजह से नहीं, डाक्टर रामविलास शर्मा की वजह से नहीं, अपनी सुराहियों की वजह से भी जाना जाता है।

मुगलों ने जो ताज महल बनाया, वह तो केवल चौदह बच्चों की माँ को ही छुपा सका, एक चौदह बच्चों के बाप को ही खुश कर सका। सुराही ने सब को सन्तुष्ट किया है।

सुराही एक प्रतीक बन गई है, संतोष की और शांति की प्रतीक।

अम्न किस के लिए ?

सुराही के लिए। सुराही के ढक्कन के लिए।

पहले सुराही के रंग कुछ और थे। अब तो मयखाने नहीं रहे, प्याऊ बाकी बची है। साकी मर गया, ब्राह्मण का लड़का पानी पिलाता है। पहले सुराही के ठाट कुछ और थे।

उर्दू में सुराही-साहित्य की एक ठंडी परम्परा है, लेकिन वह हिन्दी वालों के हाथों नहीं आ सकी। हिन्दी साहित्य तो मटका है। सुराही की कलात्मकता और सौन्दर्य उसमें कहाँ ?

पाया सुबु (सुराही) तो उम्र का पैमाना भर गया,

पुरसाँ हुए मसीह तो बीमार मर गया।

सुराही में नजाकत चाहिए जो हिन्दी में नहीं है। एकाध विरही एकाध बच्चन क्या करे ?

इसी वजह से अब अफसोस से कहना पड़ रहा है:

> लुढ़की सुराही तो
> डुचुक डुचुक पानी ढुरा
> गर्द भरे खुदे हुए फर्श पर चुपचाप
> देख देख मन कैसा हुआ।

वाकई में हिन्दी वालों की सुराही लुढ़क गई। छायावादी कवियों को पढ़ने पर कितनी बकाया प्यास नजर आती है?

साहित्य के रूप के विषय में बहस चलती है कि कौन रूप श्रेष्ठ है? साहित्य की आत्मा किस प्रकार की है, यह सवाल भी आता है।

मैं मानता हूँ कि साहित्य का रूप और आत्मा सुराही जैसी होनी चाहिए।

अर्थात अन्दर से गहरी, अथाह और शीतल करने वाली, और ऊपर से छोटे मुंह की। छोटे से मुंह से ज्यादा जल निकलना चाहिए। यही गुण साहित्य में होना जरूरी है। कुछ शब्द हों पर ज्यादा गहराई हो।

यों तो कवि लोग शान से कहते हैं कि "मैं सोचता बहुत किन्तु बहुत कम कह पाता हूँ" पर होता यह है कि वे सोचते कम और बहुत कुछ कह जाते हैं, इसलिए अच्छा बॉक्स ऑफिस साहित्य तैयार होने के बजाय कचरा निकलता है।

उर्दू में यह बात नहीं है। दो पंक्ति के शेर में भावों का विशाल जंगल छुपा रहता है।

इसका एक मात्र कारण यह है कि उर्दू के कलाकारों ने सुराही को समझा है, उससे कुछ सीखा है।

खैयामी के कलाकारों का ध्येय है कि सुराही, एक किताब और बीबी बस जिन्दगी के लिए काफी हैं।

मैं प्राय: सुराही देखकर सोचता हूँ कि जैसे सुराही एक दिन मिट्टी में मिल जाएगी उसी तरह से तू भी ब्रह्मपुत्र एक दिन नष्ट हो जाएगा।

खाली हाथ इस दुनिया में आया है और जब जाएगा तो खाली हाथ। एक कलम भी तेरे साथ नहीं जाएगा। दुनिया फानी है। एक दिन परिक्रमा लगाते गिर पड़ेगा और तेरे मजार पर कौन आकर रोज "नई दुनिया" डाल जाएगा?

मगर सुराही विश्वास दिलाती है कि स्वर्ग में भी हूरों के हाथ में मैं हूँ, आ जा तेरा इन्तजार करूँगी।

पर इस माया-मोह और शरीर की सुराही से आत्मा की प्यास नहीं बुझती है, और मैं इस असार संसार में परिक्रमा कर रहा हूँ।

चिनाब के पानी में महिवाल के पास जाते समय सोहनी का एक्सिडेन्ट हो गया था, तब से मुझे यों मटकों पर विश्वास नहीं।

तबादला [illegible]

श्री नेहरू हुकूमत राज को हराम मानते हैं। वे चाहते हैं कि शासन और जनता आपस में प्रेम रखें और विरोध मोहब्बत से मिट जाए।

पर साहब मोहब्बत एकतर्फा नहीं होती। आग दोनों तरफ लगी रहना चाहिए। फिर मोहब्बत की शुरूआत तो तभी हो सकती है, जब बेकार की परेशानियाँ न हों।

यों मैं मानता हूँ कि मनुष्य में स्थानान्तरगामी प्रवृत्ति होती है। वह एक जगह छोड़ दूसरी जगह जाता है। बिस्तर का आकार गोल रखता है ताकि आसानी से गुड़क सके। पर पहले मनुष्य एक जगह छोड़ दूसरी जगह चोर और अनाज की कमी के कारण जाता था।

अब भी कई जगह ऐसा है। आपने मद्रासी लोगों को उत्तर भारत के काफी हॉउस में आमलेट बनाते, ट्रे लेकर इधर उधर दौड़ते देखा होगा। मारवाड़ी लोगों को बंगाल में कमाई करते पाया होगा। सिख लोगों को कलकत्ता बम्बई में टेक्सी चलाते देखा होगा। उत्तर प्रदेश के भैया बम्बई में चौकीदारी करते हैं।

यह सब पैसे की मजबूरी है।

परन्तु इसके सिवाय भी एक ही प्रांत में, एक ही घर में तबादले होते रहते हैं।

तबादलों के पीछे कोई विशेष सिद्धान्त अथवा दर्शन नजर नहीं आता।

समझ लीजिए कि आदमी अयोग्य है, काम नहीं कर सकता तो उसका तबादला कर दीजिए।

और आदमी योग्य है, ठीक तरह से काम कर रहा है। तो भी उसका तबादला कर दीजिए।

उसे एक स्थान पर रहते हुए अधिक दिन हो गये हैं, तो उसका तबादला न करना खतरनाक है।

और वह व्यक्ति अभी अभी आया है, जमा नहीं है, तो फिर तबादला

करना ही बेहतर है ।

उस व्यक्ति को अपने पद से ऊपर उठाना है—बस तबादला कर दीजिए ।

उसकी उन्नति को रोकना है, तो तबादले की मदद लीजिए ।

अमुक व्यक्ति विरोधी गुट का है, फिर मत चूको, उसका तबादला कर दो ।

अपने पक्ष का व्यक्ति कष्ट में है, उसका तबादला कर दो ।

शासन कमजोर हो रहा है, काम में ढील है, बस तबादले किए जाइए ।

शासन की उन्नति करना है, नई योजना अमल में लानी है, थोड़े बहुत तबादलों की आज्ञा जारी कीजिए ।

तबादले केवल एक ही हालत में नहीं किए जा सकते । शासन उसमें बिलकुल असमर्थ हो जाता है, बशर्ते वह व्यक्ति स्वयं ही अपना तबादला चाहता हो और शासन से बराबर उसकी प्रार्थना करता हो ।

ऐसे समय शासन बड़ा मजबूर हो जाता है, लाचार हो जाता है ।

बेचारा क्लर्क काफी समय तक दुखी रहता है । लापरवाही से काम करता है । शासन को गालियाँ देता है । धीरे धीरे उसका क्रोध ठंडा हो जाता है । वहाँ पर जमने का प्रयत्न करता है । बच्चों को बुलाकर स्कूल में भर्ती करता है, नए सम्बन्ध बनाता है, नई उधारी शुरू करता है ।

सनकी शासन दूसरे दिन उसका तबादला कर देता है ।

पहले तो अंग्रेज का राज था । किसी भी निर्णय के सामने प्रश्न चिन्ह लगाने का जनता को अधिकार नहीं था । पर आजादी के बाद जो शासक बने वे तो खुद भी दौरेबाजी करते हैं, मुरैना से बड़वानी जाते हैं । चपरासियों के तबादलों की भी सूचनाएँ आती हैं । फिर शासन सारी राजधानी भी इधर उधर भगाया करता है ।

अक्ल का प्रदर्शन तो एक अर्धविराम के ठीक उपयोग करने में ही है । "रोको मत जाने दो" के समय यदि शासन यह सोच ले कि वह "रोको, मत जाने दो" लिखे या "रोको मत, जाने दो" तो ही गरीब मध्यम वर्ग की आधी चिन्ताएँ मिट सकती हैं ।

मीठी मूर्खता

प्यार में मिठास होती है और उसका कारण औरत जात है जो बड़ी मीठी, अपने यौवन और ओठ के कारण इमरती मानी गई है।

इसी कारण सदियों से कवियों की यह हालत रही कि वे हर एक बार जल्वये जनाना देखते, फिर काबा देखते न सनमखाना देखते, और नारी की मिठास को साहित्य में उतारते रहे।

बंगाल के कवि इसी मिठास के कारण 'डाको डाको डाको आमारे' चिल्लाते रहे और मीठी वाणी के उतावले रहे। उर्दू कवि 'यह मीठी चीज जरा मिठास से पिला' की प्रार्थना इस औरत जात से करते रहे। हिन्दी कवि भी 'छनती थी ज्योत्सना शशिमुख पर, मैं करता था मुख सुधा पान' के माधुर्य में पागल रहे।

नारी की मिठास के कारण सारी सब चीजें मीठी हो गई। याने ओठ मीठे, प्यार मीठा तो ठीक हैं, पर रात मीठी, हवा मीठी, स्वर मीठे, गीत मीठे, लेख मीठे, और तो और याद भी मीठी, सपने भी मीठे।

कवियों के इन कथनों का असर जनता पर पड़ा और सब पर ऐसा कुछ मनोवैज्ञानिक प्रभाव हुआ कि वे भी प्रेमिकाओं को जलेबी और प्रेमिकाएँ अपने आपको इमरती समझने लगीं।

मगर सचाई छुप नहीं सकती कभी विश्लेषण से।

सच बात तो यह है कि लोग विज्ञान के बजाय कला के अधिक निकट इसी कारण रहना चाहते हैं कि कला में एक मन को अच्छा लगने वाला झूठ होता है, एक भुलावा होता है।

और इसी मीठे भुलावे के कारण मनुष्य का जीवन सुखी रहता है। जिस दिन विज्ञान सचाई को सामने रख देता है, उसी दिन आदमी की हालत खराब हो जाती है। वह परेशान हो जाता है और फिर नए झूठ से अपने मन को बहलाता है।

नारी की मिठास भी एक कलात्मक भुलावा है, झूठ है।

जिस दिन अंगूर तथा अन्य मीठे फलों के अदन वाले बगीचे से खुदा ने आदम और हौवा को निकाला उसी दिन से मिठास से तो उनका नाता टूट गया। बारीक वाणी सुनकर हम उसे मीठी कहते हैं और फिर सोचते हैं कि जिसकी वाणी इतनी मीठी उसका हृदय और प्रेम कितना मीठा होगा। वैसी ही गलत फहमी, जो मगर को किनारे के पेड़ पर रहने वाले बंदर से हुई थी कि जिस पेड़ के फल इतने मीठे उन्हें खाने वाले का कलेजा कितना मीठा होगा!

अल्बेनी मेडिकल कॉलेज के प्रोफेसर ने लड़की के शरीर का तात्विक विश्लेषण करते हुए बताया है कि उसमें क्लोरीन इतनी होती है कि पाँच स्विमिंग पूल के कीड़े मारे जा सकें। ऑक्सीजन १४०० घन फुट, दस गेलन पानी, ढाई सेर चूना, पन्द्रह सेर कार्बन, मेगनीशियम इतना कि दस फ्लेश फोटो खिंच जाएँ। चर्बी इतनी कि आपकी दुआ से दस बार साबुन के केक बन जाएँ, गंधक भी काफी।

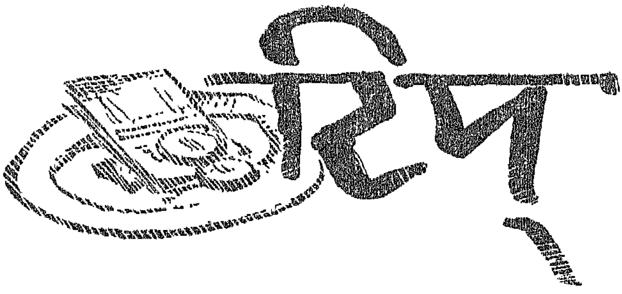
और नारी को यदि लावण्यमयी अर्थात नमकीन माना जाए तो भी ठीक है, क्योंकि उसके शरीर में पच्चीस चम्मच नमक होता है।

मगर मिठास, अब क्या बताएँ? कवियों, क्षमा करना तुम्हारी कोमल भावना को ठेस लगे तो। मेरा कसूर नहीं है, कसूर उस विज्ञान के प्रोफेसर का है। और प्रेमिकाओं आशा है तुम भी स्नेह बनाए रखोगी।

पर मधुमयी मधुबाला के शरीर में शकर केवल चार औंस होती है। जिससे एक भरी गृहस्थी की चाय भी न बने।

और इस चार औंस मिठास पर साहित्य, काव्य व प्रेम की चार मीनार खड़ी कर दी गई हैं, जैसे नारी शकर का कट्टा हो।

'सिखा दो ना मधु कुमारी, मुझे भी अपने मीठे गान' वाली प्रेमियों की भिक्षावृत्ति के पीछे यह चार-औंसी सत्य है। यौवन मधु, मधुयामिनी, और अधरामृत, नयनामृत, स्नेहामृत, सब के मूल में यही हैं शरीर के चार औंस।



टिप देने या लेने का काम कइयों को पड़ता होगा। शहर की पहले दर्जे की होटलों में जिनमें तीसरे दर्जे की अपेक्षा कम ग्राहक आते हैं, यह शब्द बड़ा प्रचलित है। यह शब्द बोला नहीं जाता, सिर्फ समझा जाता है।

टिप शब्द टिपटॉप के पहले आता है। टिप की व्यवस्था रखना, टिप-टॉप होने के पूर्व आवश्यक है। सच्चा टिपटॉप भी वही है, जो टिप में टॉप नहीं करता हो।

होटलों के बाहर सुना होगा, 'मैं टिप बराबर देता हूं पर सर्विस इतनी अच्छी नहीं है।'

फिर भी टिप देना बड़ा जरूरी सा है। टिप न देने से आप नजरों से गिर जाते हैं। वो नजरें भी बॉय की तथा उन बाई की जो आपके साथ आई हैं।

ऐसी होटलों में चाय तीन आने मिलती है और शराफत टिप देने पर सिर्फ एक आने में। बॉय जो आपको हाथ उठा कर सलाम करता है, वास्तव में आप शरीफ हैं, इसका प्रमाण पत्र देता है।

आज का आदमी शराफत को दया से बड़ा मानता है। वह भिखारी के माँगने पर पैसा नहीं देता और बॉय को बिना माँगे एक आना देता है। बिन माँगे मोती मिले (या धोती मिले, ठीक याद नहीं) माँगे मिले न भीख वाली कहावत मुझे यहाँ चरितार्थ दिखी।

टिप की प्रथा कब से प्रारम्भ हुई राम जाने। मोहनजोदड़ो के कॉफी हाउस में टिप दी जाती थी कि नहीं, इसका पता किसी इतिहासज्ञ को होगा।

पुजारी को दिया जाने वाला एक पैसा टिप ही है। ईश्वर ने तो कहा है "ऐ मनुष्य तू सिर्फ मुझे याद रख और मैं तेरा सब काम कर दूंगा।" उसे भी शायद मनुष्य की अन्य सब शक्तियों पर विश्वास था—स्मरण शक्ति पर नहीं। पर पुजारी ईश्वर व मनुष्य के इन परस्पर निश्चित संबंधों

के बावजूद भी अपना पैसा लेता है और उदार मानव की टिपदायिनी मनोवृत्ति उसे सहन करती है ।

दान और टिप में ब्राह्मण और बॉय जैसा अन्तर है । टिप और बख्शीश में साम्य है । बख्शीश शब्द मुगल साम्राज्य के साथ आया होगा; फिर अंग्रेज के साम्राज्य में टिप बनकर रहा और आज भी है ।

टिप शब्द में लघुता का गुण है । टिप-टिपका-टिपकी- टिप टिप, सब लघुता के प्रतीक शब्द हैं । टिप्पस और टिपने से इसका कोई सम्बन्ध नहीं । लघुता ऐसी कि आप एक आना दो तो भी टिप है, और एक रुपया दो तो भी, चाय लाने वाला लड़का हो तो भी बॉय है, और वृद्ध हो तो भी, और आप डायरेक्टर हो तो भी साहब हो और क्लर्क हो तो भी बॉय आपको साहब ही कहेगा ।

टिप मजदूरी नहीं है । कुली और ताँगे वाले को आप टिप नहीं देते । टिप तो नि:स्वार्थ होकर दिया संपत्ति दान है । बॉय आप से अहिंसात्मक हृदय परिवर्तन द्वारा इसे लेता है । मजदूर और मालिक लड़ते हैं, पर जिसे टिप मिलती है वह कभी पैसे वाली श्रेणी, मालिक श्रेणी का विरोध नहीं करती । अत: टिप वर्ग संघर्ष की तीव्रता को हलका करने का मार्ग है । टिप वह सस्ता डोज़ है जो सम्पन्न श्रेणी द्वारा गरीब श्रेणी को दिया जाता है । टिप के कारण इंसान खुश होकर आपका हुकुम बजाता है । समाजवाद में मजदूर टिप के लिये झुक कर सलामी नहीं करेगा ।

खैर, आज तो टिप की इकन्नी वह झूला है, सीढ़ी है, लिफ्ट है, जिसमें चढ़ कर एक मध्यमवर्गीय अपने आपको पूँजीपति श्रेणी में पहुँचा देता है । टिप देकर वह अपने आर्थिक अहं को संतुष्ट करता है ।

अत: यह नियम है कि खर्च दो और काम लो, टिप दो और काम करने वाले को प्रसन्न रखो ।

इस युग में आदमी औरत को भी खाने को देता है, कपड़ा देता है और एवज में आनन्द, उपयोग व बच्चे लेता है । पर ऊपरी अधिक जो है वह बीबी को खुश रखने की टिप है ।

यह टिप का युग है । टिप द्वारा ही सम्बन्धों में मिठास, शांति होती है और बिन टिप दिए कटुता ।

याद होगा अंग्रेज साहब के निकलने पर भारतीय बच्चे कहते थे, साहब सलाम ! और साहब सड़क पर इकन्नी फेंक देता था, अपने साम्राज्य की प्रतिष्ठा और सम्मान के लिए ।

आप भी अपनी प्रतिष्ठा का ध्यान रखिए ।

सर्वप्रिय पंक्ति

कई दिनों तक मैं यह समझ नहीं पाया और अब भी काफी नासमझ इस बात पर हूँ कि आखिर शाश्वत साहित्य क्या होता है ?

मैंने सोचा कि यदि इस शाश्वत शब्द का अर्थ और इसकी कला ठीक से समझ में आ जाए तो एकाध शाश्वत रचना लिख डालूँ जो सदैव पढ़ी जाए और कोट की जाए।

कई बार मैंने इस तरह की परिक्रमा भी लिखने की कोशिश की जो सबको पसन्द आ जाए। प्रत्येक प्रकार की विचार धारा तथा आचार धारा का आदमी उसे पसन्द करे और सिर पर उठा ले।

मगर काफी व्यक्तियों द्वारा पसन्द करने के बावजूद कई व्यक्ति ऐसे मिल गए जो उसे देख प्रसन्न नहीं हुए, उलटे नाक भौं सिकोड़ने लगे।

सोचता हूँ साहित्य में क्या एक भी चीज ऐसी है जिसे सभी व्यक्ति सब कालों में पसन्द करें !

इसी उद्देश्य से मैं काफी ऐसा साहित्य खोज चुका हूँ जिसमें मुझे ऐसी कोई पंक्ति मिले जिसे जब पढ़ूँ तब हृदय खिल जाए, आँखें चमक जाएँ। पर ऐसी कोई पंक्ति या रचना या पुस्तक मिली नहीं।

रामायण पढ़ी, बार बार पढ़ी, पर बाद में हृदय भर गया। उसमें नवीनता नहीं लगने लगी।

फिर रामायण ऐसी चीज तो है नहीं जिसे सभी पसन्द करते हों, कई लोग उसे पसन्द नहीं करते। कई रामायण पर प्रति वर्ष तुलसी जयन्ती पर भाषण देने वालों ने भी रामायण नहीं पढ़ी है।

मैंने सोचा सिर्फ हिन्दी का क्या ठेका है, किसी भी भाषा में ऐसी पंक्ति मिल जाए ?

विदेशों की कई प्रसिद्ध किताबों को छाना, पर कोई ऐसी पंक्ति भी नजर नहीं आई, जिसे सदैव ही अपने कलेजे से लगा रखें, जैसे बंदरिया अपने बच्चे को चिपकाए रखती है।

फिर अच्छी या प्रिय लगने वाली पंक्ति की भी सीमा होता है। यदि वही कई स्थानों पर दिखी तो हम उसे क्या पसन्द करेंगे ?

यदि एक ही रचना की पचास या हजार प्रतियाँ हमारे पास हुईं तो हमें उसे देखकर कोई प्रसन्नता नहीं होगी। वही बात जो एक प्रति में लिखी है, सभी प्रतियों में लिखी है। अतः आप यह कभी नहीं चाहेंगे कि सभी प्रतियाँ आप अपने यहाँ रख लें, और रखना पड़ा तो प्रसन्नता नहीं होगी।

ऐसी पंक्ति मुझे कोई भी नहीं मिली, सिवाय.......

एक दिन ऐसे ही बैठा हुआ था, तो जाने कैसे अंदाज आया कि यह सब से बड़ी कविता, सब से प्रिय पंक्ति, सब से बड़ा आकर्षण, जिसे जितनी प्रतियों में देखो मन नहीं अघाये, जिसे जितनी बार पढ़ो अच्छी लगे, जिसे जब देखो अपनी आँखों में चमक आ जाए--मेरे पास ही है।

साधारण सी पंक्ति है। आपके पास भी होगी और आप सब चीजों, सारे साहित्य से उसे बड़ी भी समझते होंगे।

सोचिए क्या है।

खैर, बता देता हूँ। वह सर्व प्रिय पंक्ति, जिसे सदैव हम पसन्द करते हैं, सभी प्रतियों में, सब से बड़ी कविता: "आय प्रॉमिज़ टु पे दि बियरर आन डिमान्ड दि सम आफ रूपीज एट एनी आफिस ऑफ इश्यू।"

द्वितीय कला योजना

आजकल जो बात विचारी जाती है वह दूसरी पाँच साला योजना के हिसाब से विचारी जाती है। जहाँ तक लक्ष्य की बात है, उसे अच्छा खासा बनाने में कोई भी हर्ज नहीं है।

जहाँ तक लक्ष्य को पूरा करने का सवाल है, वह एक आदमी के कन्धे पर होकर भी एक आदमी के कन्धे पर नहीं होता। बाधाएँ आती ही हैं और आनी चाहिए। सीधी बिछी पटरी पर एक्सिडेन्ट होते हैं, तो जहाँ पटरी नहीं बिछी है, वहाँ तो हर तरह का डर है।

आज के अर्थशास्त्रियों में और प्राचीन युग के वेद मंत्र का पाठ करने वालों में कोई खास फर्क नहीं है। वे भी सतत कुछ बोला करते थे और कल्पना को मूर्त करने की चेष्टा करते थे। अर्थशास्त्री भी आँकड़े सुनाया करता है, हिसाब बताया करता है और भविष्यवाणी कर देता है कि पाँच साल में ऐसा हो जाएगा।

जब सोचता हूँ कि दूसरी योजना में साहित्य की क्या गति रहेगी, इस पर भी विचार किया जाना चाहिए, तो खुद ही कुछ गड़बड़ में पड़ जाता हूँ। ऐसा हो कि दूसरी योजना में करीब करीब चार प्रेमचन्द, तीन सुमित्रानन्दन पन्त, एकाध निराला, और पन्द्रह राहुल सांकृत्यायन, बन जाने चाहिए। केन्द्र इसकी एक योजना बनाए और राज्य सरकारों का उसमें सहयोग हो और इसके लिए एक विशेष अनुदान भी स्वीकार किया जाए।

साहित्यिकों को प्रेरणा स्थलों पर मुफ्त टूर दिया जाए और उन्हें सस्ते कागज दिये जाएँ। फिर उदीयमान कलाकारों के प्रशिक्षण-शिविर भी खोले जाएँ जहाँ लेखक बनने का काम चन्द महीनों में सिखा दिया जाए और शिक्षित होने के बाद वे कलाकार अपने अपने स्थानों पर प्रशिक्षण दें।

सफल प्रतियोगिता की तरह साहित्य की भी प्रतियोगिता हो और वह प्रारम्भ में जिला, फिर राज्य तथा फिर प्रांतीय स्तर पर हो। केन्द्र एक विशेष पदक घोषित करे और पुरस्कृत रचना का प्रकाशन भी करे।

इन्सान क्या नहीं कर सकता?, इस वाक्य में जितना बड़ा सत्य नहीं है, उससे बड़ा सत्य इस बात में है कि इन्सान से क्या नहीं करवाया जा सकता।

अच्छा प्रचार हो तो कोई भी टेकरी एवरेस्ट बन सकती है और अच्छा प्रशिक्षण हो तो कोई भी आदमी तेनसिंह बन सकता है।

आप शुद्ध सरकारी नजरों से सोचें तो कविता में दो तत्व खास होते हैं। एक तो तुकें मिलती हैं और दूसरे उसमें भाव होते हैं।

तुकें मिलवाने के लिए सरकार प्रयत्न कर सकती है और एक कविता के विद्वानों की कमेटी बैठा कर तुकों के कोष तैयार करवाये जा सकते हैं और सस्ते में उन्हें जनता में बेचने के लिए रखा जा सकता है।

दूसरा प्रश्न रहा भावों का तो वह बहुत कुछ व्यक्ति पर निर्भर है। सरकार उत्साह बढ़ाने को एक रकम स्वीकार कर सकती है। प्रेरणा स्थलों की साहित्यिक टूर के अलावा प्रेम और बन्धनों के होने वाले काण्डों के लिए कोतवाली के नजरिये को नरम कर सकती है।

दूसरी एक योजना सहकारिता के आधार पर भी चल सकती है, कि लेखक और कवि लोग आपस में एक संगठन बना लें; वे कितने समय में कितनी रचनाएँ प्रस्तुत करेंगे, इसकी एक रूपरेखा शासन के समक्ष प्रस्तुत कर दें और शासन उनके खर्चे का धन स्वीकार करे। संतोषप्रद साहित्य बराबर जा रहा है या नहीं इसकी जाँच एक कमेटी द्वारा समय समय पर कराई जाए। कमेटी के सदस्यों को साहित्यिक नहीं होना चाहिए।

फिर सरकार चाहे तो सूचना या शिक्षा के अंतर्गत अपना एक विभाग भी खोल सकती है जिसमें प्रतिभाशालियों को नौकर रख लिया जाए।

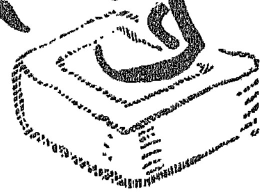
आप सोचते होंगे कि हाय हाय, यह मुआ क्या बकता है! ऐसा तो सरकार भी नहीं सोचती।

माफ कीजिए, सोचना सरकार का काम नहीं है। जो सोच समझ कर करे, वह सरकार नहीं है, कोई आदमी होगा।

पर अगर वह साहित्यिक विकास की योजना बनाए तो विश्वास कीजिए कि वह कुछ ऐसी होगी जैसी मैंने दी है।

मेरी बात और उनकी योजना मिला सकते हैं।

साबुन



रस्किन ने कहा था, 'कौन मुझे साबुन के फुग्गारों की विशेषता समझा सकता है ?' चार छः दिन पूर्व मुझे पता लगा कि साबुन के फुग्गारों में राष्ट्र की प्रगति के प्राण हैं । साबुन के झागों में देश-सेवा की गंगा है ।

हातिमताई की तरह मैं किसी मुनीरशामी का भला करने 'हम्माम-बाद गर्द' की खबर लेने नहीं गया था । अखबार में पढ़ा था कि एक प्रतिनिधि महोदय ने बताया कि साबुन लगाने से देश को बड़ा लाभ होता है ।

यों आप हम से निरूपा रॉय रोज कहती हैं कि लक्स इस्तेमाल करने से मेरी त्वचा कोमल रहती है । और सनलाइट की सफेदी की तो क्या बात है--उजले धुले हैं, अच्छे धुले हैं, किटाणु मर गये, कपड़े बच गए, स्कूल जाओ. . .देखो रामू कितना स्वच्छ बालक है । सनलाइट को धन्यवाद !

और डॉक्युमेंटरी. . .'पर बेटा तुम्हारे मास्टर ने इसके लिए क्या तरकीब बताई ?''हमारे मास्टर ने बताया कि अपने कपड़ों के लिये सनलाईट का ही इस्तेमाल करना चाहिए । मुझे उन्होंने यह टिकिया भी दी है ।'

आज के युग में प्रसाधन ही पुण्य है । आत्मा तो पवित्र है, उजली धुली है । यदि आत्मा पवित्र है तो शरीर सुन्दर है । उसी तरह साबुन है तो भी शरीर सुन्दर है । अतः साबुन इस युग की आत्मा है ।

पर आप कितना ही समझाओ, लोग स्वदेशी साबुन का उपयोग कम ही करते हैं । टाटा, गोदरेज, स्वस्तिक, गजेन्द्र वगैरा ९९ बड़ी कम्पनियों और करीब तीन हजार कुटीर उद्योगों द्वारा तैयार साबुन का उपयोग न कर वे विदेश से खरीदते हैं ।

इससे गाँधीजी भी नाराज थे, पर लोगों को स्वदेशी के उपयोग का ख्याल ही नहीं । वे तो अंग्रेजी साबुन खरीदेंगे । टॉमस लॉज ने ठीक कहा है कि गधे का कान धोवो तो साबुन बेकार जाती है और मेहनत भी ।

अरीठा, उन या नदी किनारे की मिट्टी से भी आखिर कपड़े साफ होते

ही थे । सिकाकाई और काली मिट्टी का भी महत्व है । साबुन तो भारत में इस शताब्दि के मध्य में आया । समुद्र मंथन किया था तब साबुन की टिकिया नहीं निकली थी ।

साबुन से कपड़े धोना बड़ी कला है । लोग नल के नीचे धो कर झाग का उपयोग बराबर नहीं करते । दूसरी बात, ठंडे पानी से धो कर कूटने के बजाय गरम पानी का उपयोग करना चाहिए ।

बात वास्तव में यह है कि साबुन की बिक्री उसी क्षेत्र में ज्यादा होगी जहाँ पानी अधिक होगा । त्रावणकोर कोचीन में, जहाँ पानी अधिक है, तामिलनाड़ की अपेक्षा, जहाँ पानी कम है, साबुन तीन गुना ज्यादा बिकता है । नहरों की योजना पूरी होने दो, योजना आयोग जैसा चाहता है पूरा अठाईस लाख टन साबुन बिक जाएगा ।

अब हौज भी कम होते जा रहे हैं । पहले बहुत होते थे । होमर ने ओडिसी की छठी किताब में लिखा है कि नॉसिका व उसकी नौकरानियाँ अपने कपड़े पैरों से चल चल कर धोती थीं व उनके पैर में गड्ढे होते थे ।

यूरोप की तो संस्कृति में साबुन है । हिब्रू में साबुन के लिये बारिथ शब्द आया है । प्लिनी कहता है कि साबुन फ्रांस में पहली बार बना । बात ठीक होगी, सोप के लिये फ्रेंच पर्यायवाची सेवान है । इसका कारण यह था कि यह सेवेना में बना करता था ।

चाहे कुछ हो जी ! लक्स से मतलब है आज के युग को । इसी वजह से हम पौने छः आने देते हैं लक्स के । मलाबार वाले उसी के साढ़े छः आने देते हैं, फिलिपीन में साढ़े नौ आने और बर्मा में बारह आने लगते हैं । यह तो साबुन कम्पनी के किस्मत हैं । यही रेक्सोना बर्मा में एक रुपये में आता है ।

बर्मा की लड़कियाँ कोई विशेष 'गोरी गोरी गट्टी साबुन की बट्टी' तो होती नहीं । यों संसार का प्रत्येक घर चार्ल्स डिकन्स की 'ओल्ड क्युरियोसिटी शॉप' की तरह है कि दरवाजा खुला और केवल दो साबुन से रंगे हाथ नजर आए ।

आज के युग में शकल इन्सान है, और कपड़े भगवान हैं । अभिनेत्रियाँ साबुन लगाती हैं तो हम सबको बता कर लगाती हैं, जैसे हमारे सिर पर अहसान कर रही हों अपनी त्वचा कोमल रख कर ।

और हम कमरा बन्द कर नहाते हैं, जिससे सुन्दर होने के साथ साथ संगीतज्ञ भी बन जाते हैं । बदन पर साबुन घिसने से स्वर निकलता है और राष्ट्र की सेवा होती है । मौका लगे तो इसी के नाम पर चुनाव लड़ें ।

आम

फ्रूट मार्केट अब बहुत पीला नजर आने लगा है, जैसे सोना खुले बाजार में बिकने लगा हो, जो कि यों कभी सम्भव नहीं है। कहते हैं कि विजयनगर साम्राज्य में सोना इसी प्रकार खुले में बिकता था। पर अब तो वहाँ आम ही हैं।

भारत की सभ्यता और संस्कृति इसी आम के रस को चूसकर आज ऐसी बन सकी। आजकल तो वे लोग नहीं रहे जिन्हें आम की मंजरियाँ कामदेव के तीर सी चुभ जाती थी, नहीं तो होल्कर कॉलेज के रास्ते में घायलों की कतार आम वृक्षों के नीचे पड़ी रहती।

कालिदास हाथों में आम लेकर रस में डूब जाया करता था। बीरबल की शिकायत थी ही कि शाहंशाह तो आम के साथ गुठली भी चट कर जाते हैं। आज भी आम, धरती के दूध की तरह, डालों पर आए सोमरस की तरह हमारे साथ है।

रवीन्द्रनाथ जब चीन गए तो उस साल आम उन्हें नजर नहीं आया। बड़ी ठंडी सी आह लेकर वे बोले कि मेरी जिन्दगी से एक साल कम कर दो, क्योंकि जिस वर्ष आम नहीं मिलता उसे मैं व्यर्थ समझता हूँ।

रवीन्द्र के साहित्य में आम का बड़ा प्रभाव है। आम्र मंजरी की सुगंध से उसकी कविताएँ महकी रहती हैं।

जब गली में से आम वाला आवाज लगाता गुजरता था तो रवीन्द्र के मन में ज्वार फूट पड़ता था।

'होश सम्हालते से ही भारत के बच्चे कहते हैं—'आम वाले आम दे' ' आम हैं सरकार के ' 'हम भी हैं दरबार के ' 'काली कुत्ती काटेगी ' 'घी की रोटी डालेंगे ' 'घोड़ा लात मारेगा ' 'नंदी चारा खिलाएँगे '।

सोचिए अंबिया के पीछे पागलपन, सब कुछ कर गुजरने की इच्छा आम के पीछे, क्या अर्थ रखती है ? हाँ थोड़े कष्ट तो उठाना पड़ते हैं, माली की मार भी खाना पड़ती है। आम के आम और गुठली के दाम कहाँ संभव है।

पर सोचता हूँ कि इतना प्यार करने के बावजूद भी आम नाम खराब ही है । आम शब्द आम्र, अम्र या अम्ल का रूपान्तर है । आम का तात्पर्य खट्टा होता है । आम पहले खट्टा होता था । वैदिक युग में आम कभी सम्मान नहीं पा सका । उस समय तो सब गूलर पर पागल रहते थे ।

इस अम्र या खट्टे से अमृत बना; आज भी खट्टी केरियों से पना बनता है । तो यह सोचने का विषय है कि यह पना ही अमृत अथवा सोमरस का कोई रूप है क्या ?

आज तक आम उसी खट्टे अर्थ में आता है । यों जो नए नाम आम के हैं, जैसे 'लँगड़ा' 'हापुस' वगैरा वे मुझे अच्छे नहीं लगते, यद्यपि सुनकर मुँह में पानी अवश्य आता है । ठीक है; यदि रस आता है तो मधुरता स्वीकार करनी ही होगी ।

यदि आम खट्टे से मीठा हो जाता है तो आदमी भी हो सकता है । यदि हायड्रोजन के देश वाले आम लगाकर कुछ सीख सकें तो दुनिया कितनी रस में डूबी हो जाए ।

आम के रस वाले सदैव शांतिप्रिय होते हैं । राजस्थान में एक कहावत है, 'आम फले परवार सूं मुवा फले पत खोय, वाको पाणी जो पीवे, मत कठां सू होय ।'

अर्थात आम सदा अपने परिवार, फूल पत्तों के साथ फलता है । महुआ जब फलता है, तो पत्ते झड़ जाते हैं । बताओ महुए का पानी या शराब पीने वालों में मति कहाँ से उपज सकती है ।

फल देखकर रस पहचानने का गुण बहुत कीमती होता है । यों ऐसे समझदार लोग भी हैं, जो कि लिफाफा देख मजमून भाँपते जाते हैं । समझदारों की तो कमी नहीं गालिब, एक ढूँढो हजार मिलते हैं ।

वे दो आम खरीदते हैं । एक समय रस बनाकर पी जाते हैं । दूसरे समय गुठली धो कर बघार लेते हैं । तीसरे समय छिलकों की सब्जी बनाते हैं । बाद में बच्चे गुठलियों को सेंक कर फोड़ते हैं और अंदर की चीज खाते हैं ।

कहा जाता है कि कोयल कूकती है तो आम फूलता है । इस कहने में जरूर सचाई है, क्योंकि अब यह सिद्ध हो रहा है कि संगीत से पेड़ पौधों पर असर पड़ता है ।

आम के पत्तों की शुभ छाँह में जिन्दगी गुजरे; उसके रस सा मीठा हमारा मन हो, कोयल सा हम गाते रहें, यह सभी कवियों की टेर है । आम इमलियों की नन्हीं-नन्हीं पत्तियाँ, निमिया की शीतल छाँह, सबको प्यारी है, चाहे डाक टिकिट पर आम का फल नहीं हो ।

नया इन्सान

भविष्य की ओर विस्फारित आँखों से देखो तो भावी मानव का रूप बड़ा ही विचित्र दिखाई देगा।

आप कहेंगे, हाँ जी, आदमी दिन पर दिन मशीन बनता जा रहा है, पुर्जा सा हो चुका है। खोजने पर आदमी मिलता नहीं की पुरानी काव्यात्मक शिकायत आप दुहरा देंगे।

पर इस ओर मेरा संकेत नहीं है। यों अणु का अभिशाप यह भी कहता है कि हमारी रेडियो सक्रिय संतानें कुछ विचित्र ही आकार की होंगी। उसे छोड़िए, मजबूरी का नाम इतिहास का क्रम है। अणु का असर तो सिर पर चढ़ कर मारेगा पर आविष्कारी आकर्षण हम स्वयं गले लगाकर चिपका रहे हैं।

प्रयोग में मूर्खताएँ हजार और काम की बात एक होती है--विज्ञान में हो कला में हो या भोजन में हो।

सुना है कि चीन के मुर्गीशास्त्रियों ने मुर्गी के अंडों में बतख के अंडे का तत्व इंजेक्ट कर दिया और सेने के बाद जो ईश्वर की सृष्टि प्राप्त हुई वह अपेक्षाकृत मोटी, लम्बी चोंच की और पंख वैचित्र्य से युक्त है।

भगवान बनाता है, प्रकृति प्रदान करती है; और इन्सान तो सिर्फ हरकत कर देता है। इस तरह नए रूप की यह कृति सामने आई। ईश्वर लेकिन पुराना जादूगर है, उसके दाँव सब जानते हैं। प्रकृति की लीला बोर कर रही है। अब उम्मीद आदमी से है।

फिर आज अखबार में पढ़ा कि एक शूकरी ने हाथी को जन्म दिया। मैं कुछ नहीं समझा। पुराने किस्सों में घोड़ी के पुत्र दरियाई घोड़े होने का वर्णन पढ़ा था, पर यह शूकरी से हाथी जाने किस राजा की सनक है!

तो अब यदि इस जीव के तत्व उस में प्रविष्ट कर नए जीव कम्पा-उन्ड तैयार हो रहे हैं तो भविष्य की ओर विस्फारित नैत्रों से देख नए

मानव व पशुओं की कल्पना करो।

हो सकता है, मानव और हिरण के अंशों की सम्मिलित सृष्टि ओलम्पिक रेस में जीत सकने योग्य मृगनयनियों को जन्म दे।

हो सकता है जिसके नाम के आगे सिंह लगा हो उसमें वास्तव में गरजने, दहाड़ने तथा पंजा मारने की ताकत आ जाए।

हो सकता है कुछ नमूने बन्दर की तरह चंचल और पेड़ पर उछलने योग्य हों और इंसानियत में जिप्पी सदैव के लिए रहे।

अतः जब मैंने खबर पढ़ी कि अब इस हरी घास की धरती पर इतना ज्ञान बढ़ गया है, तो गश खाकर गिर गया (मुहावरा मात्र)।

कल से यह शिकायत नहीं रहनी चाहिए कि किसी को सुरखाब के पंख नहीं लगे हैं; वह भी लग सकते हैं, सिर्फ एक प्रयोग की ही आवश्यकता है।

आप यह भी नहीं कह सकते कि बेवकूफ के कोई सींग नहीं होते। भविष्य में बेवकूफ के सींग होने के साथ साथ चाहें तो सींगदार अक्लमंद भी मिल सकेगा।

सभी शिकायत दूर हो जाएगी।

आज के आदमी से यह बॉसवर्ग की बड़ी गहरी शिकायत है कि अगर कोई नौकर योग्य है तो घमंड में फूला नहीं समाता, उसका 'ईगो' कौन सहन करे। क्षमता और नम्रता का मेल कम हो पाता है।

सो अब इस तरह का मानव भी प्राणीशास्त्र के क्षेत्र में किए जाने वाले प्रयोगों से प्राप्त हो सकता है, जिसमें प्रतिभा भी हो और जो दुम भी हिला सके। जो विरोधी पर भूँके, उससे रक्षा करे और स्वामी-भक्त बना अपने मालिक के सम्मुख दुम हिलाए।

प्रजातंत्रीय चेतना सामयिक सिद्ध हो सकती है क्योंकि आपको दिखता होगा कि वर्ग सम्बन्ध, प्रजातांत्रिक भावना और विज्ञान, तीनों में समन्वय असंभव होकर विकृति अधिक हो रही है।

कहीं यह मुर्गी वाला प्रयोग नए इन्सान के भविष्य की ओर ऐतिहासिक इशारा न हो।

हायड्रोजन सम्पर्क

'जन' शब्द से आप सज्जन अथवा दुर्जन है, ऑक्सीजन अथवा हायड्रोजन है, इसका ज्ञानार्जन नहीं कर सकते। रंगहीन, गंधहीन व स्वादहीन होने मात्र से कौन प्राणदायिनी है और कौन प्राणलेवा, इसका पता नहीं लगता। आदमी और गैस का मामला ही ऐसा है।

हायड्रोजन गैस से मेरा साबका पहली बार हलके गुब्बारे खरीदते समय पड़ा; पर आनन्द की घड़ी में कभी ज्ञान नहीं बढ़ता, सो मैं नहीं जानता था कि गुब्बारे में गैस है अथवा भूत है।

मिडिल में फिर इस हायड्रोजन से दुआ सलाम हुई। बताया गया कि फ्लास्क में मुड़ी नली लगाकर उसे डिलीवरी नली से जोड़ दो। दानेदार जस्ता फ्लास्क में डाल कार्क लगा दो और थिसिल फनेल से इतना पानी डालो कि जस्ता ढक जाए। फिर हलका गंधक का अम्ल डालो। फिर डिलिवरी नली को नाँद के पानी के नीचे डुबाओ और एक परख नली में पानी हटाने की रीति से हायड्रोजन जमा कर लो जैसा कि चित्र में दिखाया गया है।

हाइड्रोजन के दर्शन नहीं हुए, पर ईश्वर की तरह स्वयं अदृश्य रहकर उसने हमें अपनी अदाएँ बताई कि न मुझ में स्वाद है, न गंध, न रंग और न मैं पानी में घुलती हूँ, फिर भी परीक्षा में पूछी जा सकती हूँ। मुझे रट डालो।

शिक्षक ने बताया कि यह गैस स्वयं जलती है पर जलने में सहायता नहीं करती। मैंने सोचा बड़ी गाँधीवादी है, खुद जल जाती है मगर दूसरे को जलने नहीं देती। जबकि ऑक्सीजन बड़ी दुष्ट है, खुद नहीं जलती दूसरों को जला देती है।

खैर सलोने आग्रह है कि "होओओऽऽ बचपन के दिन भुला न देना"; अत: मैंने आपको अपने हायड्रोजन संपर्क की कहानी कही।

बाद में हायड्रोजन के बारे में बहुत कुछ ऐसी बातें सुनने को मिलीं कि

वह नकली घी और नकली पेट्रोल बनाने में मदद करती है, तो सहसा हमको विश्वास नहीं हुआ कि हायड्रोजन यह धंधे भी करती होगी। झूठी बदनामी समझ सुनी अनसुनी कर गए। बोले नहीं, हम नहीं मानते कि हायड्रोजन यह भी कर सकती है।

पर साहब, जब कुछ दिनों बाद हायड्रोजन बम का पता लगा तब हम मान गए कि हायड्रोजन जो करे सो कम है। बड़ी वाहियात सी चीज है। पास नहीं फटकने दी जानी चाहिए। मैंने उसे भी सचेत कर दिया। वह मुझे उत्साहहीन वैज्ञानिक मानती है।

हायड्रोजन बमों के प्रयोगों के हम सख्त खिलाफ हैं और अपने कुछ शिक्षक मित्रों के सामने अपना विरोध भी हमने प्रकट किया है। कभी मौका लगा तो यह बात हम नेहरूजी से भी कहेंगे।

अभी कुछ लोग इन चीजों के शांतिपूर्ण उपयोगों के पक्ष में हो रहे हैं। मुझे भी खींचने की चेष्टा की जा रही है पर मैं मारे नासमझी तटस्थ हूँ। वे कहने लगे हायड्रोजन को अगर गुब्बारों में भरकर बच्चों के लिए बेचा जाता है तो इस शांतिमय कार्य के भी आप खिलाफ हैं? मैंने कहा कि हाँ खिलाफ हूँ, क्योंकि आज पालने में बालक हायड्रोजन गुब्बारे से प्रेम रखता है, कल से वह हायड्रोजन बम में रुचि रखेगा।

(मैं इन गुब्बारे वालों से नाराज हूँ। ये जो गुब्बारे पर हथेली चला कर आवाज करते हैं वह मुझे नहीं जँचती।)

कल हमने सुना कि ऐसी कुछ घटनाएँ हुई हैं कि गुब्बारे बेचने वाले सड़क पर ही असुरक्षित धातु की सिलिंडर में हायड्रोजन गैस रखे हुए थे। गैस का विस्फोट हुआ और लोग घायल हुए और मरे भी।

अतः बम्बई सरकार ने विज्ञप्ति निकाल इस हायड्रोजनी खतरे से जनता और धंधे वालों को सावधान किया है और बताया है कि असुरक्षित विधि से हायड्रोजन तैयार करने पर यदि कोई विस्फोट से घायल हुआ तो कर्ता पर ३३७, ३३८ या ३०४ ए लगाई जाएगी।

देखा ना आपने, इस कथित शांतिपूर्ण कार्य में हायड्रोजन धोखे दे रही है। विस्फोट यहाँ भी हो रहे हैं। बड़ी जालिम गैस है।

राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय दोनों क्षेत्रों में इस हायड्रोजन से भली जनता पीड़ित है। केवल कंपाउंड रूप में इसका स्वागत किया जा रहा है, पानी लोग पीते ही हैं, अन्यथा हायड्रोजन के प्रति समाज की घृणा बढ़ रही है।

आबादी की समस्या

आजकल संतति निरोध और नियमन की समस्या ने अधिकारियों को दिन में और जनता को रात में परेशान कर रखा है।

बच्चे . . . बच्चे . . . , कितनी बेकार बात है; जैसे औरत नहीं स्लॉट मशीन हो, इकन्नी डालो और चीज हाथ में !

वाकई में अब इस पर जरा सीरियस होकर सोचना चाहिए। यों तो यह मामला इस आधार पर टाला जा सकता है कि जन-संख्या बढ़ेगी तो अखबार ज्यादा बिकेंगे; बच्चे अगर ज्यादा नहीं होंगे तो खिलौनों का कुटीर उद्योग ठंडा पड़ेगा। पर फिर भी जन-संख्या की समस्या को मूल रूप से हल करना ही होगा।

याने बच्चों की संख्या आदि विषयों पर आमूल क्रान्ति के लिए नए विचारों का प्रचार करना पड़ेगा।

समस्या का मूल क्या है ? एक सेक्स का दूसरे सेक्स के प्रति आकर्षण ! इसी आकर्षण का मूर्त परिणाम बच्चे, बाल-गोपाल हैं।

आकर्षण होता है नई डिजाइन के, नए रंगों के कपड़े के कारण; दूसरे ऐसे टॉयलेट के कारण जिससे त्वचा निर्मल होती है; मधुर स्वर . . . गुनगुनाहट . . गीत . . . भावगीत, अभाव—गीत के कारण; सुगंध . . . याने वेणी और सेंट आदि के कारण। दाँत साफ रखना भी आकर्षण उत्पन्न करता है।

जो ये आँख, कान, गंध, स्पर्श के आकर्षण हैं, ये मूल कारण हैं जो आगे जाकर जन-संख्या बढ़वाते हैं।

अभी वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि कीड़ों की संख्या अभिवृद्धि का कारण यह है कि मादा कीड़े में एक विशेष सुगन्ध होती है, जिसके प्रति नर कीड़ा आकर्षित होता है।

ऐसे कारण, याने भँवरा-कली आकर्षण भारतवर्ष में भी हैं। अभिज्ञान शाकुन्तल ड्रामा में सीन है :

"शकु.–(घबड़ाकर) दई ! दई !! पानी की बूंदों से डरा हुआ यह ढीठ भौंरा नई चमेली को छोड़ कर बार बार में ही मुख पर क्यों आता है ? (भौंरे को बाधा दिखलाती है)"

भौंरा क्यों आता है ? गंध के कारण ! बाद में नटी द्वारा गाए गए ध्रुपद, चौताला, भैरवी तथा राग बहार में भी आकर्षण के वातावरण व गंध-पक्ष पर जोर दिया गया है । जैसे 'सिरिस–फूलन कान धरि, बनयुवती मन को हरन ।'

इन सुगन्ध आदि कारणों से तापसी शकुंतला ने मन में विचार ला गंधर्व विवाह कर भरत को जन्म दिया ।

इस तरह से जन-संख्या बढ़ती है । अब हमें सौन्दर्य की जोत को जरा डिम करना पड़ेगा । फैशनों, सुगंधों के विरोध में वातावरण बना कर इस पारस्परिक खिंचाव को मेट देना चाहिए ।

आपस में प्रेम भाव देश को नुकसान पहुंचाता है, चाहे दार्शनिक दृष्टि से वह ठीक हो ।

इस समस्या को ज्यादा बढ़ाने में कुछ समाज द्रोही तत्वों का भी हाथ है । जनतंत्र में सहयोग पर विश्वास न करने वाले विरोधी पार्टियों के लोग, ज्ञात हुआ है ज्यादा बच्चे उत्पन्न करते हैं । शासन को चाहिए कि ऐसे देशद्रोहियों को सामने लाए; न केवल वे स्वयं बच्चे बढ़ाते हैं बल्कि ज्यादा बच्चे पैदा करने का प्रोत्साहन भी देते हैं ।

सरदार जाफरी ने 'तुम्हारी आंखों में' लिखा है: वो नन्हे-नन्हे चमकते हीरे, वो नन्हीं कलियां, जो मेरी आंख का नूर लेकर तुम्हारे आंचल में झांकती हैं--फिर और आंखें, फिर और आंखें, फिर और आंखें, ये सिलसिला ता--अबद (अनन्त काल तक) चलेगा ।

बच्चों का सिलसिला ता अबद चलाने वाले सरदार जाफरी, स्मरण रहे साम्यवादी विचार धारा में विश्वास रखते हैं ।

कम्युनिस्टों के घोर विरोधी जनप्रिय पत्रों को चाहिए कि संतति निरोध के मामले को लेकर भी वे इन रूस के पिट्ठुओं का पर्दाफाश करें । इनकी हरकतों की ओर शासन को ध्यान दिलाएँ और शांतिप्रिय जनता को गुमराह न होने दें ।

प्रगतिशील शायर 'जालंधरी' लिखता है ' इधर साएँ छः साल बच्चों की, हम करें शुक्र भगवान का दम बदम, किया जिसने हम पे इतना करम, करेगा वही उनकी रोजी बहम, मिलेगा न ज्यादा न कम ।'

इस देश–द्रोह के खिलाफ जागरण होना आवश्यक है ।

कुछ नामों पर

जिनके पति शायर हों, उनका निक नाम हाले रखने से भावात्मक शायरी की झलकी आ जाती है।

भगवान में भी अगर आस्था नहीं है तो कम से कम। तभी तो 'राम राम' कहते रहिए और हरदम हर अपने बेटे को राम कहकर पुकार लीजिए। नाम गवैया दवा में इतना काफी है।

परिणाम इसका यह होता अच्छा जाता है कि राम के नाम पर जितने पैदा हुए हैं वे उस राम से जरा भी मेल नहीं खाते।

व्यक्ति पूजा का गम भ राजनीति देश में भी इतना तय है कि नेहरू और इन्दिरा पर भी नाम रख कर अन्तर्राष्ट्रीय नीजता में वृद्धि की गई है।

भारत तो अन्तर्राष्ट्रीय प्रेम का पुजारी है, बेटा के नाम सूर्य, चन्द्र, मंगल आदि रखे जाते हैं।

और जब यह प्रेम विदेश के यात्रियों के लिए भी ऐसा बढ़ा कि एक सज्जन ने अपने बेटे का नाम बुल्गानिनसिंह रख दिया, क्योंकि बेटे के जन्म के समय ही बुल्गानिन सोवियत से आए थे।

बुल्गानिनसिंह ठीक नहीं है। इसमें थोड़ा सुधार कर इसे बुल्गा-नीसिंह कर दिया जाना चाहिए। बिहार में तो इसका रूप 'रामबुल्गानी-सिंह' आसानी से हो सकता है।

गानिन की जगह गानी ठीक है। इसमें भारतीयता नजर आती है। रूस में भी नेहरू से नेहरूनारायकी, जवाहरोविच, इन्दिरी आदि ही होता होगा।

आप अपने बेटे को लेनिन कहें और थोड़े सालों बाद हिन्द सोवियत भाई भाई मन का मन्त्री कोई लेनिन कुमार श्रीवास्तव हुआ तो क्या बुरा है?

गोर्की किसी भी लड़की को कहा जा सकता है, आकर्षक है। गंगा

होटल की जगह वोल्गा रेस्टोरेन्ट में ग्राहक ज्यादा आएँगे। सवाल क्वालिटी का नहीं है, अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री भावना का है। वह असर करती है।

पाकिस्तान में अब्दुल इलेस चौधरी, खान आईसन बहादुर और बेगम बारबरा, आज से कुछ वर्ष बाद स्कूलों में भरती होने लगेंगे।

तो बुलगानीसिंह और ख्रुश्चौफीराम लकड़ी का पीढ़ा बना कर जब रोहतक रोड पर टीन की कुर्सी डाले बैठेंगे, तो फुट-पाथ से जाता कोई रूसी यात्री क्षण भर को ठिठक कर देखता रह जाएगा। और वे कुर्सी पर बैठे अपने पिता की देन का ख्याल कर शरमा जाएँगे।

क्योंकि बुलगानी नाम वाले ज्ञानी कम होकर बुल अधिक रहेंगे। भारत में बुल और ज्ञानी दोनों एक दूसरे के विरोधी शब्द हैं। यों दूसरे विकल्प बुलबुलज्ञानीसिंह, ज्ञानी बुलबुलसिंह के भी हैं। पर उनमें बुलबुल अधिक और "गेनिन" कम है।

नामों की कलमों के आयात निर्यात की अति यही होगी कि किसी दिन रूस में जो प्रधान मंत्री हो उसका नाम नेहरूनवुर्ग हो और भारत के प्रधान मंत्री का नाम बुलगानी हो।

पर यह असंभव है।

यदि यह असंभव आप मानते हों तो मानिए कि नामबाजी में कुछ नहीं रखा है; नहीं तो आज हर राम या उसका परिष्कृत आधुनिक स्वरूप ईमानदार होता।

यह नहीं हो रहा है और न होगा ही। आप अपना नाम ब्रह्मपुत्र रख लें तो क्या परिक्रमा लिख सकते हैं? और अगर लिख लेंगे तो छापेगा कौन? और अगर छपेगी तो नाम मेरा होगा या आपका?

फिर भी बुलगानीसिंह एक सूझ तो है। बुल और सिंह के बीच ज्ञानी पड़े हुए हैं। वास्तविकता भी कुछ ऐसी ही है। या किसी जंगल में हो रही शिकार की स्थिति सी है; अथवा सर्कस का मामला है।

आप इन दोनों के बीच से ज्ञानी को बचाइए। सींग और पंजे के बीच विवेक मर रहा है। दोनों की डकारों में अभिव्यक्ति मौन है।

वह अभिव्यक्ति जो भाई "चारे" के इस वातावरण में व्यक्ति पूजा को बुरी चीज बताए।

पत्रं पुष्पं

प्रार्थनाएँ, अपीलें, शिकायतें दिल मे की जाती है तो कुछ नही होता है। तर्क की धौंस के साथ रखी जाएँ तो भी कुछ नहीं होता।

पर जब यही तर्क, यही प्रार्थनाएँ, यही शिकायतें सोने की खदान से उमड़ कर आती हैं, बटुओं में से कूद पड़ती हैं, तो पत्थर पिघलने लगते हैं, असंभव का 'अ' कट जाता है।

सदियाँ गुजर रही हैं, और परेशानियों के ठण्डे बर्फीले मैदान हमेशा सिक्कों की स्लेज गाड़ी से पार किए जाते रहे हैं।

इसी भलमनसाहत के काम को अलग अलग नामों से पुकारा जाता है, जैसे भेंट, उपहार, दान, रिश्वत, बख्शीश, टिप, दहेज, चढ़ौती, पगड़ी, वगैरा।

एक ही क्रिया में केवल काल और स्थान का भेद हो जाने पर उसे उपहार के बजाय रिश्वत कह दिया जाता है।

किसी बड़े अफसर, सचिव या उनसे भी बड़े व्यक्ति को जब सिर झुका कर, श्रद्धा की आँखों मे चीज भेंट की जाती है, तो वह उपहार (बच्चों की मिठाई के लिए), याददाश्त, वगैरा कहलाती है।

किसी निचले दर्जे के क्लर्क, मुंशी, इन्सपेक्टर को देने पर वह बख्शीश या इनाम कही जाती है।

किसी संस्था, दल या देश को देने पर वही चीज भेंट या दान बनती है।

अब इसमें किसे भ्रष्टाचार कहें और दोष लगाएँ और किस की प्रशंसा करें और चित्र छापें ? ठुकरा दें या प्यार करें ?

इस सब के मूल में मनुष्य की दे देने की कोमल प्रवृत्ति है, जो हमारी सामाजिकता, धर्म, दान, पूजा, श्रद्धा-प्रेम-प्रदर्शन की आत्मा है।

ईश्वर को पटाने के लिये साधु, ब्राह्मण और पुजारियों को देना धर्म है। स्वर्ग में ठहरने की व्यवस्था करना दान है, रेल के डिब्बे में बैठने की

व्यवस्था करना रिश्वत है, घर में रहने की व्यवस्था करना पगड़ी है।

स्वर्ग में अप्सराओं, हूरों, की व्यवस्था वन की कहावनी कही जाती है। जीवन में बीबी की व्यवस्था को दहेज माना जाता है। पर अस्थायी इन्तजाम भ्रष्टाचार है।

इतिहास हमें अजीब गणित बताता है।

दासता के युग में देने वालों और लेने वालों के अनुपात में अन्तर था। राजतन्त्र के युग में अन्तर कम पड़ा। प्रजातन्त्र के युग में अनुपात समान होता जा रहा है।

दासता के युग में गुलामों, सुन्दरियों, हीरों, सिक्कों की भेंट केवल एक व्यक्ति को दी जाती थी। राजतन्त्र के युग में यही भेंट कुछ अधिकारियों की जेब को भी प्राप्त होने लगी। प्रजातन्त्र के युग में छोटे से लेकर बड़े तक, छोटे से लेकर बड़ों तक को, छोटी से लेकर बड़ी भेंट तक दिया करते हैं।

इतिहास में कुछ युग ऐसे भी आए, जब अपनी पत्नियाँ भी उपहार में दी जाती थीं। विद्वानों का मत है कि वह युग आज भी समाप्त नहीं हुआ।

सच बात यह है कि काम होने के पूर्व देने पर जो चीज रिश्वत कहलाती है, काम हो जाने के बाद देने पर उसे भेंट या बक्शीश कहते हैं।

जो धैर्य रखते हैं, बाद में लेते हैं, वे सदैव सुखी रहते हैं। जो अधीर हैं, जिन्हें विश्वास नहीं, वे भ्रष्टाचारी कहलाते हैं, सजा भुगतते हैं। इसलिए, कहा गया है, धीरे धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय।

रिश्वत के सम्बन्ध में यशपाल का विश्लेषण यद्यपि तीखा था, पर मुझे अच्छा लगा।

रिश्वत की यह विशेषता है कि यह क्रिया कभी हिंसात्मक नहीं होती, सदैव अहिंसात्मक होती है। यह सदैव सामने वाले का हृदय परिवर्तन करने के बाद ली जाती है। असहयोग उसका साधन है, लक्ष्य सुख सुविधाएँ हैं।

प्रेमचन्दजी के शब्दों में नौकरी में ओहदे की तरफ ध्यान मत दो, वह तो पीर का मजार है। निगाह चढ़ावे पर और चादर नरम रखनी चाहिए। मासिक वेतन तो पूर्णमासी का चाँद है, जो एक दिन दिखाई देता है, फिर घटते घटते लुप्त हो जाता है। ऊपरी आय बहता हुआ स्रोत है जिससे सदैव प्यास बुझती है!



जीवन क्या है, दियासलाई है, अभी लगाई है और अभी बुझाई है। सब कुछ जलने को है, यह नश्वर शरीर और सिगरेटें। 'दियासलाई कहे जलाने वाले सों, तू क्या जलाइहो मोहि, एक दिन ऐसो आएगो, मैं जलाऊँगी तोय।'

जहाँ संघर्षण है वहाँ आग है, जलन है, और बस वहीं पर सब राख होने को है। हवा में उड़ खोने को है।

कुछ दिनों पहले मैंने सुना था कि हैदराबाद में जो माचिस के तीन कारखाने बनने वाले हैं, वहाँ प्रत्येक में पांच पांच हजार लड़कियाँ काम करेंगी; और सिर्फ लड़कियाँ ही लड़कियाँ...माचिसें ही माचिसें; तो मैं सोचता रह गया था।

लड़कियाँ और माचिस की सींकें दोनों ज्वलनशील हैं। हर रूपमती ने अपने को शमा या आगकाड़ी से तोला है और माना है कि यह उम्र तन्हाई सिर्फ रात भर है, हंस कर गुजार दें या रो कर गुजार दें।

और हर माचिस का यही होता है, जब तक न जली, न जली, पर एक बार जब आदमी के हाथ आई तो राख हो गई। कुछ नहीं बचा, गल झड़ गए।

माचिस की काड़ी के ऊपर लगा मसाला किसी तन्वंगी के सिर पर बँधे जूड़े की तरह लगता है। जल मरने को तैयार! पर वक्त की बात है, कई बार जब मसाले और दिमाग की भावनाओं पर सीलन लग जाती है, तब आप उसे ज्वलनशील नहीं कर सकते।

आप कहेंगे, ब्रह्मपुत्र, कहाँ विराट और चित्तौड़ की पद्मिनियाँ और कहाँ माचिस की काड़ी! कहाँ खानदान और कहाँ आग पेटी का बक्सा! कोई तुक है! तुक नहीं है, पर उपमा अवश्य है। और आगे बढ़ूँ भी क्या? माचिस हो या लड़की लकीर से जरा रगड़िए तो भविष्य जल जाए।

हर काड़ी और कुड़ी के जलकर राख होने के अलग अलग कारण

हैं; चूल्हों की तरह जलती रहने वाली गिरस्ती में जलो या सिगरेट की तरह घमंडी आदमी के लिए राख हो जाओ।

माचिसें भी कई बड़ी मशहूर हुई हैं, कई लड़कियों की तरह।

बरसों पहले दक्षिण में एक सज्जन ने ईसा मसीह छाप माचिस बनाई। जाने कहाँ से वह घूमती हुई फ्रांस के एक पत्रकार के हाथ पहुँची और उसने एक रूस के विरूद्ध आरोप-डिस्पेच तैयार किया कि लोह दीवार के अन्दर ईसा मसीह का अपमान हो रहा है, और उनके नाम की माचिसें बना कर उन पर व्यंग्य किया जा रहा है। रूस को इस आरोप से इंकार करना पड़ा। बाद में कहीं पता चला कि यह माचिस भारत में बनी थी, वही भारत जहाँ शकुंतला, रत्नावली, वासवदत्ता और द्रौपदी आदि हुई हैं।

यह माचिस—युग है। हर जगह शांति से छोटी छोटी आगें लग रही है। इस पर माचिस फख्र करती है; शायद है कि सिर्फ सिगरेटें जलकर रह जाएँ अथवा यह भी हो सकता है कि फायर ब्रिगेड की घन्टियाँ बाजार गुंजा दें। और ठीक ऐसे जब कहीं प्रेमकथा की गरम चिनगारी टूटती है, तब शायद है वह एक गृहस्थी बनकर ठंडी हो जाए अथवा औपन्यासिक उलझन बन कर पुलिस और पिताओं को परेशान कर दे।

हैदराबाद के कारखानों में मजदूर और उत्पादन के रूप में एक ही सृष्टि के जड़ और चेतन रूप मिलेंगे। दोनों जलने के वास्ते हैं।

यह जलनशील रूपमतियाँ कारखानों की पेटियों में बन्द रहेंगी और बाहर जब सिगरेटी शरीफ खड़े अपने जलने की प्रतीक्षा में घड़ियाँ देखेंगे, तब पैसे के कारण हर आगकाड़ी 'जल तू जलाल तू आई बला को टाल तू' का ही व्यवहार करेगी।

पर यह तो व्यापक सत्य है।



जिस प्रकार फल कैसा है, इसका अन्दाज छिलके से लग जाता है, ठीक वैसे आदमी कैसा है इसका अन्दाज कपड़ों से लगता है ।

यों कई बार गलत फहमी भी हो जाती है । आदमी कुछ और तरह का होता है और कपड़े कुछ और तरह के होते हैं ।

अब आवश्यकता महसूस हो रही है कि सरकारी पोशाक कुछ एक तरह की बने ताकि आदमी पहचाना जा सके ।

भारत ऐसा देश है, जहाँ सांस्कृतिक नजर से कौन सी पोशाक अपनी मानी जाए, इसका ठीक पता नहीं लगता । यहाँ कपड़े पहनने वालों से दिगम्बरों तक, जिनके शीश पगा न झगा तन में है, कई प्रकार के लोग होते हैं ।

स्वतन्त्रता आंदोलन के कुर्ते धोती को देश की पोशाक बनाना तो कुछ ठीक नहीं । अब वे एक विशेष दल की ही पोशाक रह गये हैं, अतः प्रजातन्त्र को यह स्वीकार नहीं होगा ।

गाँधी विनोबा सरीखे कपड़े पहन कर सरकारी नौकर ठीक से सायकल चला दफ्तर नहीं पहुँच सकेंगे ।

नेताओं का भी निश्चय नहीं । सब अलग तरह के कपड़े पहनते हैं । नेहरू की जब जैसी सनक चढ़ती है, पहनता है । राजाजी ने अभी तक टोपी के विषय में कुछ निश्चय नहीं किया ।

राष्ट्रीय पोशाक की सोचते वक्त हमें अपनी संस्कृति, अपनी परिस्थिति, अपना अन्तर्राष्ट्रीय महत्व आदि सब सोचना होगा । कुछ भी 'धोती फटी सी लटी दुपटी' से काम न चलेगा ।

कपड़ा ऐसा हो जिसमें कम पने में अच्छा मिले । तुरपई कम करना पड़े । काज बटन कम कम हों । गिरह दो गिरह बच जाए और सिलाई माफक हो ।

कपड़े ऐसे हों कि जिन्हे पहनने पर कपड़ों की बचत हो सकती हो । शेरवानी व चूड़ीदार पाजामा इस कारण ठीक नहीं कि सिलवाई अधिक

लगती है। पहनने में देर हो जाती है। लाभ यही होता है कि अगर कमीज न हो या फटी हो तो भी शेरवानी पहनने पर विदेशियों के सामने लज्जित न होना पड़े।

बुशर्ट इस नजर से सस्ता पड़ता है। इसे पहनने पर केवल कमीज पहनने सरीखा हल्कापन भी नहीं रहता और कोट बनवा कर पहनने का खर्च भी नहीं।

बुशर्ट में यह दोष है कि वह हमारी संस्कृति में मेल नहीं खाता।

भाई, संस्कृति क्या है? यह तो नदी की धार है, भागीरथी है। इसमें तो नई लहर आती ही रहेगी। इस सांस्कृतिक धारा में पीताम्बर धुले, पाजामे धुले पेंट धुले और आज बुशर्ट धुल रहे हैं।

भारतीय संस्कृति सदैव ग्रहणशील रही है। बुशर्ट तो एक संकट कालीन युग में भारत को मिला है। आज बच्चे बच्चे के बदन पर वह है, बच्चे जो देश के भावी नागरिक हैं।

तो आज राष्ट्र बुशर्ट पहने तो कोई बुरा नहीं।

पर बुशर्ट किस तरह का? नगर में भांति भाँति के बुशर्ट नजर आते हैं। रंगीन, अरंगीन छींट के, तस्वीर वाले, अखबार, 'आन' वाले, आवारा वाले, येन केन कई तरह के।

अभी अभी नया बुशर्ट बम्बई का आया जिसमें बम्बई के दर्शनीय स्थानों की तस्वीरें बनी हैं। (काश विक्रम की उज्जैन और अहिल्या की इन्दौर व भोज की धार का भी अपना बुशर्ट होता)

इन बुशर्टों को देख विचार आता है कि राष्ट्रीय बुशर्ट कुछ इसी प्रकार का बने। उसमें कुछ सांस्कृतिक स्थान, जैसे अजन्ता, ताज, वगैरा हों। कुछ राष्ट्रीय चिन्ह, तीन शेर, एक चरखा, गेहूं की बालियां आदि हों। कुछ भारतीय नेताओं के चेहरे हों। भारतीय विधान तथा पंचवर्षीय योजना आदि किताबों की तस्वीरें बनी हों।

अब सवाल स्त्रियों का है। वे क्या पहनेंगी? केन्द्रीय सचिवालय के लिए यही सवाल आ खड़ा हुआ था। नई फैशनें आकर रोज आफतें पैदा कर देती हैं।

पहली आवश्यकता तो यही है कि एक कमेटी बैठ यह निर्णय करे कि इस युग की स्त्री का अधिक से अधिक कितना भाग वस्त्रावृत्त रखने के लिए कड़े नियम हों।

ज्य

आज से बरसों पहले जो काम हो जाते थे, अब नहीं होते।

वैसे कुछ काम तो ऐसे हैं जिनके होने न होने पर भी हमें अविश्वास होता है। अब प्रेतों के दर्शन नहीं होते जैसे तुलसी को हुए थे। सिंहासन बत्तीसी पर बैठ कर कोई न्याय नहीं करता। किसी हातिम को पानी में से जंजीर खींचने पर सुन्दरी नहीं मिलती। कोई पत्थर पैर लगने पर औरत नहीं बनता। घूमती हुई मछली में कोई तीर नहीं मारता और गीत गाने पर हिरण नहीं आते। ऑरफियस की बंसी कहानी बन कर रह गई।

पहले जब बाप बेटे को चौदह साल के लिए जंगल भेज देने जैसी हरकत करता था, तब कुछ साल बाद रामराज्य छा जाता था। अब बेटे जिन्दगी भर शिकारी बने रहें, मगर न जंगल का एक शेर मारें और न घर के एक भाई को खुश रख सकें।

कैसा युग होगा, जब पुत्रों का इतना आधिक्य था कि बेटे वनवास जाते और पत्नियों का इतना अभाव कि पत्नियाँ साथ चली जातीं।

कैसा सन्तुलनहीन युग होगा जब एक ओर सारी बस्ती को एक कन्हैया ही सब कुछ दिखे, और कहीं एक द्रौपदी का बन्धुकरण करना पड़े।

अजीब लोग थे जब सुदामा ने न तो समाजवादी पार्टी बनाई, न वह साम्यवादी बना, मगर अपने पूँजीपति सखा कृष्ण से 'एड' लेकर आ गया। लोग इसे आज तक आदर्श कथा मानते हैं, पर वास्तव में उस समय सुदामा ने सर्वहारा आंदोलन की पीठ में छुरा भोंका था और सामन्तवाद के सामने सिर झुकाया था। युगों तक यह कहानी प्रचलित रही और सुदामा कृष्णों के दरवाजे चक्कर लगाते रहे और कोई कृष्ण कभी अपनी पटरानियाँ छोड़ कर बाहर नहीं आया।

मगर अब जोश खाने से क्या फायदा? उस जमाने के नक्शे कुछ और थे, और आज के जमाने का अन्दाज़ कुछ और है।

किन्तु हर प्रकार के समाज के पीछे आर्थिक कारण होते हैं ऐसा मार्क्स ने कहा है, और यह सब से बड़ी बात मुझे भी जँचती है। पिछले जमाने के निर्माणों के पीछे कुछ व्यक्तिगत कारण भी रहे होंगे, पर समाज की परिस्थिति के पीछे आर्थिक दशा प्रमुख चीज थी।

रामराज्य के निर्माण में भरत की जो एक खास भूमिका रही है, उस पर विद्वानों ने नही सोचा (अपवादों की बात न करें।)

भरत ने कसम खाई थी कि जब तक राम नहीं आएँगे, कुछ नहीं करूँगा, सिवाय डिफेंस के। और राम के आने तक सिवाय रक्षा करने के उसने कुछ नहीं किया।

चौदह साल तक अस्फाल्ट की सड़कें नहीं बनीं, डी. डी. टी. नहीं छिडका गया, तरण पुष्कर (स्विमिंग पूल) नहीं बने, अखाड़े नहीं बने, सड़कों के हाशिये में ड्रेनेज नहीं आया। भरत जड़ भरत रहे। हाँ, जनता कर चुकाती रही।

और फिर आए राम; आदाबर्ज!

सारा कोष में रखा पैसा आपने खर्च कर दिया, कहीं शरयू पर घाट बँध रहे हैं, कहीं जानकी महिला उद्यान बन रहा है, कही लक्ष्मण मार्केट, या भरत क्लब, हनुमान अखाड़ा, दशरथ प्रौढ़ शिक्षालय, सुग्रीव चिड़िया घर, विभीषण सांस्कृतिक मैत्री मण्डल, आदि आदि।

लोगों ने कहा, वाह! क्या राम और क्या रामराज्य! बुढ़ापे में जंगल जाने पर सब विद्वान बनते है, राम जवानी में जंगल जाकर योग्य हो गए।

मगर राम के राज्य के प्रसिद्ध होने का श्रेय भरत ने जो खर्च न कर आर्थिक ब्रह्मचर्य रखा, उसे मिलना चाहिए।

और वही अर्थनीति या भरत नीति यदि आज अपनाई जाए तो रामराज्य बन सकता है। चौदह साल तक खर्च न करें, रोजमर्रा का उपभोग रोक दें, और एक दिन खुल जा सम सम।

श्री नेहरू ने जो पूँजीवाद को समाप्त कर समाजवाद लाने की बात कही है वह वास्तव में राम का जंगल में बैठ अयोध्या को आश्वासन है।

एक दिन राम जंगल से आएगा और जितने ये भरत हैं, ढेरों जिनका बैंक बैलेन्स बढ़ रहा है, उन्हें अपनी रकम राम को देनी पड़ेगी, और फिर रामराज्य आएगा और निर्माण में तेजी आएगी और कुछ लोगों ने जो अराम-राज्य बनाया है वह नहीं रहेगा।

मगर फिर भी हातिम को पानी में जंजीर खींचने पर जो मिला था, वह तो हमें क्या मिलेगा?

बटन

मेनेजर के कमरे के दरवाजे पर आकर क्लर्क के बदन में कॅपकपी आ जाती है। हाथ उठा कर वह कमीज के बटन लगाने लगता है।

लगे बटन सभ्यता के प्रतीक हैं। खुले बटन लापरवाही बतलाते हैं।

बड़ी बड़ी मुलाकातें, सभ्यता के तकाजे, शरीफ नजर आने की चाह, सब हमें बटन लगाने को मजबूर करते हैं।

स्कूल भेजते समय माँ अपने हाथों से बच्चे के बटन लगा देती है।

वक्त करवट लेकर चला जाता है। कपड़ों में नई फैशनें आती हैं, जूनी चलन का मजाक बन जाता है। मगर बटन ध्रुव तारे सरीखा अचल है, वह लगा रहेगा। कौन है वह जिसके कपड़ों पर बटन भी न हों और उसे शरम भी न आए।

वर्षो पूर्व न जाने किसने पहला बटन बना कर लगाया था। समय उसका नाम भूल चुका। मगर वह व्यक्ति फ्रांस का होगा, क्योंकि बटन शब्द फ्रांस की देन है।

स्त्रियाँ उपयोगिता को नहीं समझती, केवल सौन्दर्य वृद्धि को ही लक्ष्य मानती हैं। पन्द्रहवीं सदी में बटन केवल स्त्रियों के कपड़ों पर सुन्दरता बढ़ाने का काम करता रहा है।

मगर बटन के पास सूर्य और चाँद की गोलाई थी। चक्र की गति थी। विशाल संसार में वह लुढ़क पड़ा।

वह जहाँ गया, करीब खींच कर लगा लिया गया।

बी. सेंडा, एमाईल बेसेट और मैथ्यू बॉल्टन ने बटन को नए रूप में ढाला। मैथ्यू के बेटे ने १७४५ में एक ग्रॉस बटन १४० गिन्नियों में बेचे।

बटन का महत्व समझने वाला ग्राहक केवल ग्राहक ही नहीं पुजारी भी होगा। बटन का क्षेत्र बढ़ता गया, उसके भाव गिरते गए।

बटन आज सब का प्यारा है, सबके पास है।

विदेशी संसद के एक प्रसिद्ध वक्ता की आदत थी कि वह अपने बटन

दुकूल धारण करें और नील अलकों में लाल अशोक के फूल हों, याने जरा जँचता हुआ सौन्दर्य हो, पुरुष वर्ग की दफ्तर से छुट्टी हो, धोबी वक्त से कपड़े दे दे, माह आखिर की आर्थिक फड़तूसी न हो, तो यह बसन्त ऋतु और इसकी पंचमी जरा असर कर सकती है।

नहीं तो यह सिर्फ कहने की बातें हैं कि बसंत आया। बसंत आया तो कोई जवाहरलाल नेहरू आया, कि चाऊ-एन-लाई आया, जो मन में उमंग हो।

मैं कई मामलों में आजकल के समय से सख्त नाराज हूँ। जैसे आज के युग में भाषण की स्वतंत्रता है यह तो खुशी की बात है, मगर संबोधन की स्वतंत्रता नहीं है। किसी सुन्दरी को आज आप सुन्दरी नहीं कह सकते। कुरूपा तो क्या कहेंगे ?

पहले आप यह तो कह सकते थे कि 'हे रूप सुन्दरी तुम बड़ी मोहिनी हो।' प्रयोग करके जरा कह दीजिए, आपको पता लग जाएगा कि आज-कल बाटा ने दामों में रिडक्शन कर दिया है और इधर बाजार में नया स्टॉक कानपुर से आया है।

बस इसी वजह से बसन्त बेमतलब है। याने बसंती अनुभूति हो और आप उसे अभिव्यक्त न कर सकें; आपको रूप दिखे और शराफत के तकाजे से आप घूर न सकें; बगीचे में गए और हाथ बँधे हों और तारों को देखो तो पट्टी बाँध कर, बताइये आखिर यह क्या है ? साड़ी रँगने से बसन्त तो नहीं आता।

अतः अब बसंत सिर्फ कविता की, गीतों की बात रह गई है।

बड़ा फर्क है सुन्दर चेहरे और सुन्दर किए गए चेहरे में। बड़ा फर्क है लाल गालों में और रूज से लाल गालों में, काली आँखों और काली की गई आँखों में, असली बसंत में और जबरन मनाए गए बसंत में।

चौखटे अंडे

चाहे सारे चौखटे राम के बनाए हुए हों, पर फिर भी चौकोन और आयताकार का अर्थ ईश्वर को नहीं आता। वह सिर्फ गोलाकार से परिचित है !

यह पृथ्वी अच्छी चौखटी डिब्बे के समान होने को हो सकती थी। चाँद अगर चौखटा होता तो उसका उजाला कम नहीं होता; सूरज अगर चौखटा होता तो क्या हम उसे नमस्कार नहीं करते। पर भगवान को यह आइडिया कभी नहीं आया कि चीज चौखटी हो सकती है।

सो जितने फल उसने बनाए सब गोल हैं, जितने पत्ते उसने बनाए सब गोल हैं, पेड़ के सारे तने गोल हैं, डालियाँ गोल हैं ! धरती पर नहीं, ऊँडे सागर में उतर जाइए, आपको हर विष्णु का माला शंख गोल नजर आएगा, हर बूँद की प्यासी सीप गोल दिखेगी।

खरगोश जूते के डिब्बे की तरह नहीं ! शेर और कुत्ते किसी खोके की तरह नहीं ! सारे प्राणी अपने आकार में गोल हैं !

साधारण ही नहीं, जो विशेष है वह भी गोल है। आकर्षण और रूप की परिधियाँ गोलाकार हैं। मैं चारों ओर देखता हूँ और मुझे सब कुछ गोलमाल नजर आता है।

पर आदमी अकल में ईश्वर से थोड़ा कम सनकी है, सो उसकी कृति 'स्क्वेयर इन ए राउंड होल' की तरह नजर आती है।

वह समझ गया कि गोल चीजें व्यर्थ में स्थान नष्ट करती हैं, उनका कोई उपयोग नहीं। गोल कोई आकार नहीं, वह निराकार शून्य की तरह है। बड़ा होने पर उसका उठाना कठिन है। गोल में स्थिरता नहीं है, वह गुड़कता है और उसके साथ आर्थिक युग के मेहनती मानव के सपने लुढ़क सकते हैं, संस्कृति लुढ़क सकती है।

पहियों तक उसने गोलाई की कद्र की, आगे नहीं। यह आस पास की ईश्वरीय चीजें गोल हैं, पर वे स्थायी नहीं।

मनुष्य को अपनी चीजें पेड़ पर पैदा नहीं करना है। वह उसे बनाता है, पैक करता है और दूर दुनिया में भेजता है, बेचता है, गोल सिक्के प्राप्त करता है।

भगवान की बनाई गोल चीजें भी उसे चौखटे बक्सों में बन्द करना पड़ती हैं। खोकों में आपने सेव फल काश्मीर से आते देखे होंगे।

अभी मैंने कहीं पढ़ा कि मुर्गी के अण्डे जो रामकृपा से गोल होते हैं, और जिनके व्यापारियों को पैकिंग में परेशानी होती है, टूट फूट का डर रहता है---अब से चौखटे होंगे। डिबिया की तरह!

आप ऐसा कहीं न समझें कि मुर्गी और उसके आध्यात्मिक मालिक ईश्वर को कुछ समझ आई है, और अब से अंडों की लम्बाई, चौड़ाई व ऊँचाई समान होगी; जी नहीं, यह तो खुराफाती इन्सान ने ही सोचा है कि मुर्गी वाले अण्डों को फोड़ कर पतली पर मजबूत प्लेस्टिक डिबिया में बन्द किया जाए! फिर वे आसानी से पैक हो जाएँगे, टूटेंगे नहीं। जिस किसी को जरूरत हो वह उसे तोड़ कर उसका यथार्थ अपने उपयोग में ले लेगा।

मैं सोचता हूँ कि यह भौतिकवादी इन्सान का पहला महत्वपूर्ण कदम है जब वह भगवान की दी चीज को अपने ढंग से बदल रहा है।

कल से शायद ऐसा भी हो कि कच्चे सेव और नाशपाती को घनाकार बदलने के लिए कोशिशें चलने लग जाएँ।

और वक्त कह कर नहीं आता; संभव है कभी तरबूज गोल नहीं रहें, हमारा गोल और लम्बोतरा चेहरा वास्तव में चौखटा हो जाए और मियाँजी की मुर्गी सुबह कुँकड़ू के साथ सन्देश दे कि भविष्य में मेरे अण्डों का आकार गोल नहीं होगा, गेंद पर किक मार दी गई है, गुब्बारा उड़ा दिया गया है।



साड़ी नारी की बाहरी आत्मा है ।

अब तो दस्तकारी का युग नहीं रहा कि लोग सारी बिच नारी है या नारी बिच सारी है के चक्कर में पड़े रहें, अब तो दोनों बिच साबुन है । साबुन है कि चेहरा है, चेहरा है कि साड़ी है, साड़ी है कि साबुन है—का सवाल भारतीय व्यापारियों और उद्योग स्वामियों के बीच उलझ रहा है ।

नवल टाटा को इस बात का खेद है कि विदेशी साबुन का उद्योग भारतीय साबुन उद्योग को धो रहा है, और हमारा अस्तित्व बुरी तरह से घिस रहा है, सरकार पानी भी नहीं दे रही है, बिना झाग के मौत होने वाली है ।

भारतीय पति को साड़ी उधार में लाना पड़ती है और साबुन ब्याज में देते रहना पड़ता है । साड़ियों के मामले में भारतीय नारियों का आदर्श द्रौपदी का है—आप आश्चर्य में डूब जाएँगे कि उनके वस्त्र निकालते निकालते भी कभी समाप्त नहीं होते । और कृष्ण की तरह आप बराबर देते रहें तो भी उनकी आवश्यकता समाप्त नहीं होती ।

मिल की मशीनें कृष्ण बनी वस्त्र देती रहती हैं और धोबी दुःशासन उन्हें अनुपयोगी बनाता रहता है और पतिव्रता की 'वस्त्र दो' की पुकार कभी समाप्त नहीं होती ।

गुलामी में साड़ियाँ कम हुईं और स्कर्ट थोड़े बढ़ सके । वह अंग्रेज का चीर-हरण ही था । पर अब तो आजादी आ गई है, और हमारी आजादी का आदर्श जो ताको काँटे बोए ताको बनाई बगीचा है । सो प्रधान मंत्रीजी की सगी बहन बिजयलक्ष्मी जी आजकल लन्दन में साड़ी का प्रचार करने में व्यस्त हैं ।

भारत में साड़ीवार प्रान्त अगर बनाए जाते, भाषा व संस्कृति के आधार पर प्रान्त की बात नहीं सोच साड़ी पहनने के ढंग और उसके क्षेत्र पर विचार किया जाता, तो नया नक्शा बड़ी आसानी से बन जाता ।

जो राजनीतिज्ञों के घोटाले चले वे नहीं चलते। मध्य प्रदेश की राजधानी चन्देरी हो जाती।

खैर, पर लन्दन म विजयलक्ष्मीजी ने वहाँ की फैशन-परस्तों के बीच अलग अलग डिजाइनों व टेकनीकों का प्रचार किया और महिलाएँ पागल हो गईं। साड़ी राष्ट्र मंडल का मैत्री आँचल बन गई।

पर साड़ी कभी अकेली नहीं जाती, जब जाती है तब अनेकों साबुनों की बट्टी अपने साथ लेकर जाती है।

मैं यह नहीं कहता कि भारतीय साबुन भी वहाँ के बाजारों में "उजले धुले हैं—अच्छे धुले हैं" की पुकार लगा देगा। पर फिर भी इंग्लेण्ड का साबुन काफी देश में ही खपने लग जाएगा।

भारत वहाँ अपनी साड़ियाँ बेचेगा और वे यहाँ अपना साबुन, बताइए इस मैत्री में क्या हर्ज है? आप उनका तन ढँके, वे आपका मैल निकालने में मदद करें। दोनों को अच्छा है।

देखना यह है कि साड़ी वहाँ अधिक फलती है या साबुन यहाँ। हम उनके वस्त्र उद्योग में घोटाला कर दें, और यहाँ गन्दे रहना अधिक पसन्द करें बजाय विदेशी साबुन से नहाने के, तो राष्ट्रीय कर्त्तव्य तो पूरा हो चुकेगा।

विजयलक्ष्मी स्वयं काफी साड़ियाँ पहनती हैं और संसार में उनका नाम हो गया है। और अब जब एलिजाबेथ ने तीन साड़ियाँ खरीद ली हैं, तब से भारतीय साड़ियाँ पहनना इंग्लैंड का राष्ट्रीय धर्म हो गया है।

मतलब कहने का यह है कि लन्दन के दर्जियों की मौत है। स्कर्ट की सिलाई गई, साड़ी में क्या सिलेगा? भारत में जब लेडीज़ टेलर बढ़ रहे हैं—तब लन्दन में यह गड़बड़!

हाय, विश्वशांति और सांस्कृतिक मैत्री—तुझ में भी बड़ा ऐब है।

अंधेर नगरी

उस दिन जाने कहाँ किस पापी ने जन्म लिया कि उसकी पहली चीख सुनते ही बिजली गुल हो गई और सारा शहर चिड़ी चुप्प अँधेरा गुप्प हो गया।

और इसी बहाने बिजली विभाग ने अपनी पहली योजना की लक्ष्य से अधिक सफलता का प्रमाण प्रस्तुत किया।

एक क्षण को लगा कि किसी ने हमें निष्प्राण कर दिया। मनहूसियत के झंडे गड़ गए, बिना हिले डुले हम नर्क के प्रारंभिक स्वागत कक्ष में आ गए। जैसे मंगल गृह से आदमी आ गए हों और बिजली समाप्त कर हम पर आक्रमण करने को टूट पड़े हों। सारे शहर मे एक विशेष प्रकार की ध्वनि सुनाई देने लगी। माचिसें मशाल हो गईं, टॉर्च चाँद हो गए और आदमी परवाना बना जिधर उजाला हो उसी तरफ उम्मीद भरी आँखों से देखने लगा।

यहाँ आशावादिता का प्रारंभिक अनुभव होने लगा, कि अब आएगी, पर वह गई थी अपनी मैके---जल्दी क्या आती।

अँधेरे में जब भौतिक सहयोग खो जाता है, तब आदमी की सुप्त चेतना जागती है, उसकी सूझ बूझ की चकमक उजाला देने लगती है और वह "अपनी ज्योति आप बन, आप बन अपनी शरण" काम करता है। आँखें लट्टू हो जाती हैं और निखट्टू में कर्म की भावना उगती है। पर अँधेरे के कर्म वह कर नहीं पाता क्योंकि स्विच उसने ऑफ नहीं किया है, सरकार ने ऑफ किया है। जानें कब दीवारों की आँखों में चमक आ जाए।

आदमी तब ऐसे चलता है जैसे चोर चल रहा हो, घोड़े ऐसे भागते हैं जैसे अँधेरे में आक्रमण कर रहे हों, कारें ऐसी लगती है जैसे कुछ उड़ा ले जा रही हों, उनकी चमकती आँखों में रहस्य लगता है, सामने आने वाला व्यक्ति प्रेत का इम्प्रेशन देता है। सभी ओर जासूसी वातावरण!

तब महसूस होता है कि यदि आदमी उल्लू होता तो कितना अच्छा होता। उल्लू छोड़ हम उल्लू के पट्ठे भी नहीं है। इसका डिप्लोमा भी

चांसलर क्रोध में देते हैं, पर वह समय पर सच साबित नहीं होता ।

तब अन्दर की गहराइयों में से पुरानी लालटेनें निकलती हैं, जिनकी बत्तियाँ ठीक नहीं है, जिनकी ढिबरी खराब है, जिनमें घासलेट नहीं है । रूमानी युग में मनुष्य और शमा के बीच बने हुए सम्बन्ध फिर से मजबूत होते है । पतली पतली छरहरी लम्बी कद की, जिनकी उम्र तन्हाई है पन्द्रह मिनिट, हँस कर गुजार दें या रो कर गुजार दें ।

ऐसे समय जब रेडियो की अभिव्यक्तियाँ अपना ठौर भूल जाती हैं, तब टेलीफोन के तारों में से आदमी के शब्द दौड़ते हैं: अँधेरा है, अँधेरा है ।

उस अँधेरे को देख कर राज़ खुलता है, कि लड़कियाँ चाँद नहीं होतीं, न बेटे हीरे होते हैं । चमक न चेहरे में होती है और न नयनों में । वह तो लालटेनों में होती है ।

अंधकार प्रतिभाशालियों के घर में भी होता है । जिनकी आत्मा शुद्ध होती है उन्हें भी हाथ को हाथ नहीं सूझता । ईश्वर के बनाए चाँद ने अभी तक गैर हाजरी नहीं की किन्तु यह बिजली उस समय गायब होती है जब आदमी प्रदर्शिनी का टिकिट खरीद अन्दर पहला कदम रखता है ।

किसी अच्छे कार्यक्रम की तरह, वंस मोर के स्वर जाने किस विघ्न संतोषी के कण्ठ से आते हैं और बिजली एक बार लट्टूओं, मरक्यूरियों में झाँक कर फिर चली जाती है ।

आदर्श और बेरोजगारी

देश के बड़े बड़ों के सामने चाहे खुद के रोजगार की चिन्ता न हो, मगर देश के रोजगार की चिन्ता अवश्य है।

सभी के सामने यही मसला है कि किस प्रकार से समाज को आदर्श बनाया जाए तथा सब को नौकरी दी जाए।

समाज आदर्श कैसे बनता है ? हरिजनों के मंदिर में प्रवेश से और कुछ लोगों द्वारा भूमिदान कर देने से नहीं बनता। कुछ के आदर्श होने का अर्थ सब का आदर्श होना नहीं माना जाना चाहिए। जब सब ही आदर्श हों तब संतोष की बात होगी। पर आखिर आदर्श होता क्या है ?

आदर्श यही होता है कि हम सत्य का व्यवहार करें, ईमानदारी से जीवन काटें, अपने स्वार्थ के लिए समाज को धोखा न दें, चोरी नहीं करें, टिकिट का ब्लेक नहीं करें, होटल में चमचम नहीं चुराएँ, परीक्षा में टीपें नहीं, बिना टिकिट सकुशल यात्रा नहीं करें और मन्दिर से अपने जूते पहने ही वापिस आ जाएँ, वगैरा।

और जो समाज के जवाबदार सेवक हैं—जैसे सिपाही, कण्डक्टर, नाकेदार, चौकीदार, स्टोरकीपर, जॉबर, खजांची, आदि वे अपनी जिम्मेदारी बिना मन में तोला भर भी पाप लाए निभाएँ।

समाज के आदर्श बनाने का अर्थ यह है कि इनका काम ठीक से चले। टी. टी. की जरूरत न पड़े क्योंकि किसी की टिकिटहीन यात्रा सम्भव ही न हो। एक्साइज इन्सपेक्टर की जरूरत न पड़े क्योंकि किसी के मन में बेईमानी ही जागृत न हो। इन्सपेक्टर की आवश्यकता न पड़े, सारे शिक्षक स्वतः ठीक से पढ़ाएँ। भ्रष्टाचार विरोधी दफ्तर समाप्त हो जाएँ।

समाज के आदर्श बनते ही इन सब पदों की आवश्यकता नहीं रहेगी। रोडवेज के सारे चेकर समाप्त हो जाएँगे। एक मोटर में ड्रायवर ही कण्डक्टर होगा; दफ्तर में एक खजांची, इतने बड़े दफ्तर की क्या जरूरत ?

इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि जैसे जैसे समाज आदर्श बनेगा, वैसे वैसे बेकारी बढ़ती जाएगी ।

हर आदमी जब ईमानदारी से काम करेगा तो फिर देखरेख करने वालों की आवश्यकता क्या पड़ेगी ?

इस प्रकार प्रश्न यह आता है कि अब किया क्या जाए ? समाज को आदर्श बनाने में तो बड़ा भारी आर्थिक संघर्ष पैदा हो जाएगा ।

आज यह हालत है कि यदि कहीं सभी यात्री टिकिट लेकर यात्रा करें तो टी. टी. बदनाम हो जाए और रेल्वे दफ्तर यही समझे कि वह स्वयं भ्रष्टाचारी है ।

यदि सारे कंडक्टर गड़बड़ न करें तो चेकर बदनाम होगा, नौकरी से हाथ धोएगा ।

इस प्रकार कइयों की ईमानदारी दूसरों के भ्रष्टाचार पर ही निर्भर रहती है ।

फिर मोटे रूप से देखा जाए तो सब से नीचे जो नौकर है उस पर एक अफसर, उस पर दूसरा अफसर, उस पर फिर अफसर, फिर अफसर, का जो क्रम है वह इसीलिए चलता है कि नीचे वाला बेईमान न बने । हर कर्मचारी यह देखता है कि दूसरा काम कर रहा है कि नहीं ।

बस इसी को 'विभाग' कहते हैं । आदर्श समाज की स्थापना होते से ही बड़ी भारी छँटनी शुरू होगी ।

जहाँ तक पंचवर्षीय योजना का प्रश्न है हमें बेरोजगारी को समाप्त करना है । बेरोजगारी बढ़ाने का सवाल उठता ही नहीं ।

अतः इन दो बातों में से एक बात निश्चित कर ली जाए और एक ही रास्ता तय कर उस पर चला जाना चाहिए ।

आदर्श और बेरोजगारी, दो प्रश्न हैं और निश्चित रूप से अच्छा आदर्श तो यही है कि बेरोजगारी खत्म हो । याने टीटी, चेकर, इन्स्पेक्टरों आदि की संख्या बढ़नी चाहिए ।

सुद्ध हिन्दी

कई बार विद्वानों के दिमागों में बड़ी प्यारी प्यारी गलतफहमियाँ हो जाया करती हैं। जिस तरह कि कभी कभी मूर्खों के दिमागों में भी नई सूझ आ जाती है।

सो मेरे दिमाग में यह सूझ आई है कि विद्वानों के दिमागों में कुछ प्यारी गलतफहमियाँ हैं। वह भी विशेष कर हिन्दी के विद्वानों के दिमागों में।

हिन्दी सुद्ध होनी चाहिए। व्याकरण तथा शब्द-प्रयोग के संबंध में होने वाली भूलें भासा का सत्यानास कर रही हैं।

होता यह है कि बच्चा जन्मने के बाद से ही गलत हिंदी का उच्चारण करने लग जाता है। हर शब्द को या तो बोलता ही नहीं और बोलता है तो असुद्ध। इसका प्रभाव कई बार बड़ों की भाषा पर भी पड़ता है।

अब जब जीवन के प्रारम्भ में ही गलती हो रही है तो आगे कौन हवाल है। जब पालने में उच्चारण खराब रहा तो हॉल में भाषण देते समय गलती हो तो कुसूर किसका ?

अत: यह मानिए कि जीवन में या समाज में सुद्ध हिन्दी के आन्दोलन सदैव असुद्ध हिंदी के बाद प्रारम्भ होते हैं।

आजकल बच्चों को ही नहीं, बड़ों को हिन्दी चटाने और चपर चपर करने के योग्य बनाने की बात चल रही है। सो असुद्ध हिंदी एक भयंकर प्रश्न हो गई है। जहाँ देखो वहीं असुद्ध।

ऐसे समय सभी हिंदी के वृद्ध प्यारों को बुरा लगता है कि भाषा बिगड़ रही है।

भाषा के अधिकांश रूप बिगड़े हुए करार दिए जा सकते हैं, क्योंकि जहाँ नागरी पर ग्रामीण का प्रभाव पड़ा कि भाषा बिगड़ी। और ग्रामीण संपर्क सदैव नहीं होता रहे तो भाषा कभी प्राणवान हो नहीं सकती।

पर अपने देश में आनन्द यह है कि हिंदी पर बृज का प्रभाव पड़े

तो वह अपवित्र नहीं होती, अवधी का प्रभाव पड़े तो भी नहीं होती, पर जहाँ कहीं शब्द या रूप के क्षेत्र में मालवी, नीमाड़ी अथवा राजस्थानी प्रभाव पड़ जाए तो भाषा गन्दी हो जाती है ।

और विद्वानों के दिमाग में प्यारी गलतफहमी के अंकुर फूटते हैं कि हिन्दी असुद्ध हो रही है ।

इधर कुछ दिनों थोड़ी व्यापक सहिष्णुता की जलवायु रही, तो यह मान लिया गया कि ग्रामीण शब्दों की घुसावट प्रयोग है और अनिवार्य है । हिन्दी कविता में कुछ गिरिजाकुमारी प्रयोग इसके नमूने हैं ।

पर बात अब हिन्दी भाषा-बोली से बढ़ कर प्रांतीय भाषाओं पर जा रही है । मराठी, बंगला, गुजराती की केसर क्यारियों में हिन्दी भी थोड़ी छेंटी से बोई जा रही है । मराठी-हिंदी के गंधर्व संबंधों से एक नई गलतीमयी भाषा बन रही है ।

"सम्मेलन घर के मामूँ हो रिया है । इन्होंको अध्यक्षता के वास्ते बुलाया है । अपनेकूँ भी निमंत्रण है । कायकूँ नी जाना, तुम को ।"

यह सुद्ध हिंदी नहीं है पर है तो हिन्दी । अगर आप चाहते हैं कि हिन्दी का प्रसार प्रचार हो तो न सिर्फ इस भाषा बोली को कान से सुनना स्वीकार करना होगा, पर साथ ही उसे लिखी देख कर भी मन में प्यार जगाना पड़ेगा ।

भाषा में ब्राह्मणवाद और गुजराती मराठी से मिलने पर छुआछूत के भय खतम करने होंगे ।

मराठी, बंगाली का बूढ़ा भी तो हिन्दी में बच्चा ही है, सो कच्चा ही रहेगा । और भाषण में इनकी कच्ची हुंडी मंजूर करके दस बीस सालों के लिए पेट में फिद्दू स्वीकार कर लिया जाना चाहिए ।

हिन्दी बुढ़िया की गोद आए बेटे लम्बे तड़ंगे हैं, सीखे समझदार हैं, पर जुबान के सुद्ध नहीं हैं, सो पेलें पेलें बुरे लगते हैं, पर बाद में अच्छे लगेंगे । पलने से तो मंत्र पाठ करता कोई आता नहीं ।

ख्याल है मेरी बात नी जँचे, क्योंकि मैं खुद इस प्रदेश का सब से बड़ा असुद्ध हिन्दी का लेखक हूँ । अपनी भूल पर सैद्धांतिक ढक्कन लगा रहा हूँ ।

ताश



रावण जैसा महत्वाकांक्षी व्यक्ति भी शतरंज का शौकीन था। मन्दोदरी के साथ एक बाजी खेल ही लेता था, हालाँकि उसके भी सपने थे, वह आसमान तक सीढ़ी बनाना चाहता था।

तो ऐसे इन्डौर गेम बुरी चीज नहीं हैं।

पर नेताओं को यह भी अखर रही है। नेहरूजी ने कहा है कि आराम हराम है, हमें भविष्य बनाना है। मैं मानता हूँ, मगर घड़ी दो घड़ी ताश खेल लेना कोई बुरी बात नहीं।

आप जानते हैं, नेताओं की तो बात छोड़ो, पर बाकी सब से अधिक व्यस्त बच्चे रहते हैं। उनके पास ढेरों समस्याएँ हैं। अपनी धरती पर वे डेलीगेशन की तरह घूमते है और हर चीज को बारीकी से समझने की चेष्टा करते हैं।

पर फुर्सत मिलते ही वे भी चंग पो, डाकन पौवा या शेर बकरी खेलने लग जाते हैं।

अब सरकार ताश पर कर लगा रही है। बेकारी के जमाने में एक केरेवन का पेकेट अगर वक्त काट देता है तो वित्त मंत्री देशमुख को जाने क्यों पसन्द नहीं!

मन बहलाने के लिए सिनेमा मँहगा है। रेडियो भी सिर दर्द हो जाता है। मगर ताश के बावन पत्ते वर्ष के बावन सप्ताहों के मनोरंजन के लिए काफी हैं।

फिर ताश के काफी खेल मनुष्य का चरित्र निर्माण करते हैं।

जैसे तीन दो पाँच, कम सुविधा से ज्यादा प्राप्ति करना सिखाता है। सात हाथ हम में लगन व धैर्य उत्पन्न करता है। झब्बू बेगार कैसे टालना, यह बताता है। लालपान सत्ती का खिलाड़ी जानता है कि प्रत्येक वस्तु का कितना महत्व है।

यदि लोग ताश से अपना खर्चा निकालते हैं, तो क्या हुआ? सब के

पास में अपनी कला है। कोई चौक में खोल कर कमाता है कोई सराफे में; सबके अपने अपने ढंग हैं।

ताश छीनने से मनुष्य नहीं सुधरता, उसकी भावना बदलिए। अच्छी भावना से भी ताश खेली जा सकती है। अभी योजना थी कि जनता कुछ पैसे लगाकर खेले, और जो कुछ लाभ हो, वह बाढ़ पीड़ितों को भेज दिया जाए।

ऐसी भावना वाला जुवारी मेरी नजर में बुरी भावना के नेता से ज्यादा अच्छा है।

गाँधीवाद दिल बदलना सिखाता है, चीजें छीनना नहीं। बीबी छिन जाने से मियाँ फकीर नहीं बनते।

शान्ति के युग में कर शतरंज पर लगे तो ठीक भी है। पर ताश तो प्रजातन्त्र का खेल है। जिस किसी को प्रजातन्त्र समझना हो उसे ताश समझना चाहिए।

ताश में अलग प्रकार के पत्ते होते हैं, वैसे ही देश में अलग तरह की पार्टियाँ होती हैं। ईंट, पान, हुकुम, चिड़ी व कांग्रेस, साम्यवादी, समाजवादी, जनसंघ वगैरा।

ताश में तुरुप आ जाती है, और उस प्रकार के सब पत्तों का महत्व बढ़ जाता है, जैसे हुकम की तुरुप होने पर उसकी दुर्री भी महत्व की हो जाती है। वैसे ही पार्टियों में भी एक कोई चुनाव में जीत जाती है जैसे कांग्रेस जीत गई, और अब कांग्रेस की दुर्री चौकी भी कम्युनिस्ट के इक्के से अपने को बड़ा मानती है, मन में फूली नहीं समाती। वक्त पड़ने पर वह इक्के को काट भी सकती है।

तो ताश तो प्रजातन्त्र का खेल है। उसमें चाहे राजा और गुलाम हों पर आधार दूसरे हैं। रहा दुर्री और देहले का सवाल तो चपरासी और सेक्रेटरी भी होते ही हैं। वह जमाना तो है नहीं कि सब बराबर हों, सारी जनता एक घाट पानी पीती हो। श्री राम प्याऊ और रेफ्रीजरेटर के फर्क को समझना चाहिए।

बंगालिनें तो आज भी जादू करती हैं, मगर बंगाल का जादू अब खत्म हो रहा है। ताश के पत्ते पर ही सारा जादू का खेल आधारित है। वे जादू-गर आज मजमा जमा कर फिरते हैं। राजा रहे नहीं जो उन्हें रुपये दें, जनता ही सब कुछ है। पर ताश पर नाराजी प्रकट करके सरकार ने उन बेचारों का दिल ही तोड़ दिया।

मन में विश्वास हो तो ताश के घर भी किले बन जाते हैं। बिना बावन पत्ते छीने ही पंचवर्षीय योजना (दूसरी) पूरी हो जाएगी।

फिजूल संस्कृति

आवश्यकता आविष्कार की जननी है और ऐयाशी आविष्कार की बेटी है।

जरूरत के कारण कार आती है और कार आती है तो ऐयाशी का उदय होता है। मानवी विकास का क्रम यही है कि आवश्यकता से वह ऐयाशी की तरफ बढ़ता है।

कालान्तर में ऐयाशी के लिए जुटाई सब बातें संस्कृति की प्रतीक बन जाती हैं। जो जरूरत से ज्यादा है, वही वैभव है और इतिहास में झाँक कर वैभव का मूल्यांकन ही सांस्कृतिक मूल्यांकन है।

अर्थ शास्त्र की कटीली भाषा में यह जो कुछ जरूरत से ज्यादा जुटाया गया है, जो लक्जरी है, वह आर्थिक आदर्शों में फिजूल खर्ची है।

सभ्यता क्या है? सभ्य मानव कौन सा है? जो ठीक खाता हो, ठीक रहता हो, ठीक शिक्षा पाया हो, पिछड़ा जीवन नहीं बिताता हो, वह सभ्य है। अतः सभ्यता और आवश्यकता के बारे में एक ही साँस में सोचना होगा।

हम अपनी सभी मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेंगे तो सभ्य हो जाएँगे। पर संस्कृति आवश्यकता की पूर्ति नहीं है, आवश्यकता से अधिकता है।

यानी फिजूलखर्ची से जो जुटाया गया है वह सब सांस्कृतिक है और उन्हीं से कालान्तर में हम सुसंस्कृत कहलाएँगे! सभ्यता और संस्कृति में हरक और मलमल का फर्क है। ढाके की मलमल उस समय की आवश्यकता नहीं थी पर उस समय का सांस्कृतिक गौरव उसी के थान में हमें नजर आता है। तब की फिजूलखर्ची आज का आश्चर्य है।

पर इधर कुछ दिनों से कुछ असांस्कृतिक हरकतें होने लगी हैं। समाज से फिजूलखर्ची उठाई जा रही है, उसका विरोध किया जा रहा है।

निश्चित ही यह हमारी संस्कृति पर चोट है !

आप मेरी बात मंजूरेंगे । मंजूरना हो तो मंजूरिए न मंजूरना हो तो न मंजूरिए पर यह है सत्य !

जैसे, असली स्वागत तो हृदय की भावना में और आँखों की चमक में होता है । सभ्यता यह है कि हम सड़क के दोनों किनारों पर लेनडोरी बांध खड़े हो जाएँ । पर संस्कृति स्वागत द्वारों में, ऊपर से बरसने वाले फूलों में, पैरों के नीचे बिछाए कालीनों मे और आँखों के सामने आयोजित मणीपुरी नृत्यों में है । कृत्रिमता का उत्कर्ष ही संस्कृति है ।

और यह सब फिजूलखर्ची है ! एक गैर-देशमुखी हरकत है, जिसे आँकड़े निकालने वाला रजिस्टर स्वीकार नहीं कर सकता ।

दफ्तर रूखी सी जगह होती है जहाँ लाल डोरी से गतिविधियों के पैरों में जंजीर जैसी बँधी रहती है । फाइलें और पिनें—बस यही सब कुछ हैं । इसमें संस्कृति कहाँ ? यह खर्च आवश्यकता है, ऐयाशी नहीं, संस्कृति नहीं ।

संस्कृति है, यहाँ भी है, और उसे दफ्तरी भाषा में मिस्लेनियस शायद कहा जा सकता है । कहीं इंटरटेनमेंट भी कहते हैं, कुछ जगह वह पब्लिक रिलेशन के नाम पर होता है—पर वह है अवश्य !

यह बारीकी से देखा जाए तो संस्कृति हो सकती है या फिजूलखर्ची मानी जा सकती है ।

अब सरकार इस फिजूलखर्ची का, इन बंजर में उगने वाले सांस्कृतिक अंकुरों का विरोध करने की सोच रही है । यह गैर सांस्कृतिक कार्य है जो प्रजातान्त्रिक सरकार से अपेक्षित नहीं ।

शायद वे इसे अर्थशास्त्री की निर्मोही नजरों से देखते होंगे, पर जरा सोचें, इसी संस्कृति से कितनों के पेट पल रहे हैं । धन विकेन्द्रित हो रहा है । सो यह क्या हमारे आदर्शों के प्रतिकूल है ?



लालटेन

जब एकाएक मोहल्ले की बत्तियाँ बुझ जाती हैं, और पत्नियाँ बिजली घर का नाम ले कुढ़ती हुई लालटेन जलाती हैं—तब मनुष्य को लालटेन की महत्ता का अन्दाज लगता है।

जिस प्रकार सिगरेट के चलन ने हुक्के और चिलम की गौरव गरिमा को कम कर दिया है, उसी प्रकार बिजली ने भी लालटेन की ज्योति को फूँक मार दी है।

भारत की बढ़ती हुई बिजली की योजनाएँ यदि सफल हुईं तो लालटेन का रहा सहा उजाला भी समाप्त हो जाएगा। जैसे लन्दन के जीवन में १४१५ में लालटेन आए लेकिन १८९२ तक आते आते सात लाख बत्तियाँ हो गईं।

शुद्ध राष्ट्रीयता के प्रेमी को इस भारतीय उद्योग पर धक्का लगता देख बहुत दुख होगा। अच्छे गाँधीवादी को बिजली बुझाओ व लालटेन जलाओ का नारा लगाना होगा।

साम्यवादियों को उन तीन हजार मेहनतकशों का ख्याल आ जाएगा जो "लालटेन उद्योग" में काम करते हैं और वे सरकार के खिलाफ अपने लाल लालटेन की ज्योत बढ़ा देंगे।

वाणिज्य विभाग के लिए भी यह चिन्ता हो जाएगी कि वे सन '५५ व '५६ में बनने वाले पचास लाख लालटेनों को कहाँ खपाएँगे।

लालटेन उद्योग के हितचिन्तक टेरिफ आयोग के सदस्य श्री आडरकर, श्री रामसुब्बन और श्री दास गुप्ता अगर लालटेन जलाकर भी खोजेंगे तो ग्राहक नजर नहीं आएँगे।

क्योंकि जब तक घर की बिजली जलती है तब तक लालटेन का महत्व कौन समझेगा, और भारत के ग्राहक इतने दूरदर्शी नहीं हैं कि संभावना में ही खर्च कर दें।

सस्ती बिजली के युग में कौन लालटेन पसन्द करेगा, जबकि हमारे राष्ट्रीय लालटेन, नौजवान क्लर्कों की तरह सदा रोगग्रसित रहते हैं।

टंकी से तेल चूता है, ढक्कन ढीला रहता है, बत्ती घटाने बढ़ाने का लीवर बेकाम हो जाता है, पाँच कैंडल पॉवर से ज्यादा कभी प्रकाश नहीं और बारह घंटे से ज्यादा कभी जलता नहीं।

बताइए ये लालटेन पंचवर्षीय योजना की व्यस्त रातों में जलाना देश को नुकसान पहुँचाना ही है या नहीं ?

देश के नेताओं को लालटेनों के विषय में गम्भीर होकर सोचना चाहिए। हमेशा विदेश नीति की सफलता पर उछलना और घर के विषय में न सोचना लालटेन तले अँधेरा है।

हमें देश में नई जागृति का लालटेन जलाना है और यूनान के दार्शनिक की तरह दिन में लालटेन ले सचाई खोजना है।

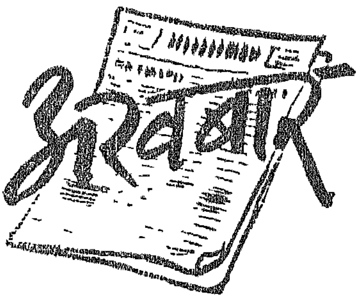
योरप में पुनरुत्थान काल में लालटेन सब से सुन्दर वस्तु मानी जाती थी। वह जागृति का प्रतीक था। आज भी रोम के सेंट पीटर और लन्दन में सेंट पॉल गिर्जे के शिखर लालटेन के आकार के हैं। प्राचीन काल में लालटेनों का आकार आज की तरह नहीं होता था, नगर के घंटा-घर की तरह होता था। हमारे देश में तो लालटेन दुर्बलता का प्रतीक है, मुक्तिबोध के शब्दों में, "दो लालटेन से नयन दीन"।

पॉम्पी और हरक्यूलेनियम की खुदाई में जो लालटेन मिले हैं, वे खंबे वाले मन्दिरों के आकार के हैं।

विनोबाजी को चाहिए कि बिजली के स्थान पर लालटेन के उपयोग की अपील करें, जयप्रकाश को हाथ में लालटेन लेकर देश में प्रचार करना चाहिए। हिन्द-चीन मैत्री बढ़ने के लिए दोनों देशों में लालटेनों का आदान प्रदान होना चाहिए।

हमें चाहिए कि अपने सारे त्यौहार लालटेनों से मनाएँ। जिस प्रकार चीन में नए वर्ष का त्यौहार लालटेनों से मनता है और जापान में बोन का त्यौहार होता है।

सरकार को अ.भा. लालटेन दिवस आयोजित करना चाहिए। खादी वर्दी की तरह यह भी जरूरी हो। कम से कम मन्त्रियों को तो अपनी कारों में लालटेन लगाकर ही घूमना चाहिए। शायद रास्ता नजर आए।



अखबार का कार्यालय मुर्गी की तरह है जो रोज सुबह जनता के समक्ष एक अंडा प्रस्तुत करती है। 'सबेरे-सबेरे उठ मुँह अँधेरे, जैसे ही जागे, कहीं से अभागे, बोल पड़े कागे'—ताजी खबर एक आना।

और बिस्तर में पड़ा बच्चा हारमोनियम की गलत रीड सा क्याँ-क्याँ करता है, रजाइयों से अन्दर के कमरे में कप-बशी की मीठी खनक सुनाई देती है, चाय किसी ताजी सुन्दरी के ओठ सी गरम और मीठी लगती है, मगर प्रेमी इन्सान उठता है तो सिर्फ अखबार की आवाज सुन कर।

नगरों में परम्परा है कि मादा को उठाने दूध वाला आता है और नर को उठाने हॉकर।

हॉकर कुछ नहीं जानता सिवाय इसके कि जिस दिन जगत में ज्यादा नालायकी होती है, उस दिन परमेश्वर को भी इतनी परेशानी नहीं होती जितनी अखबार वालों को।

एक अखबार की इकन्नी में एक मशीन, एक इमारत और कई व्यक्तियों का अंश होता है। खबरों की चिड़ियाएँ फाँसने के लिए देश भर में जाल बिछा रहता है। सम्पादक उन चिड़ियाओं के पंख साफ करता है और रूप देता है। फिर कम्पोजीटर, फिर प्रुफ रीडर, फिर पेज, फिर मशीन, फिर हॉकर और फिर ग्राहक की इकन्नी!

अखबार वे आँखें होती हैं, जिनके माध्यम से सारा शहर संसार देखता है। हमारा देश ऋषि मुनियों का देश है, आँखें मूँद कर आत्मा के दर्शन करना बड़ी चीज है। अखबार तो इस चराचर जगत की सूचना देता है और मायाजाल में मनुष्य को बाँधता है।

पर नास्तिकों की भी संख्या होती है जिनके लिए अखबार गीता व खबरें सीता की तरह प्यारी होती हैं। और काम जिमि रति से, रावन जिमि सती से और पत्नि जिमि पति से बँधी रहना चाहती है, उसी तरह वे भी अखबार से बँधे रहना चाहते हैं।

पर कल लंदन की खबर पढ़ी कि साऊथ डेवन वीकली एक्सप्रेस के सम्पादक की जब मृत्यु हुई तो उसके साथ उस अखबार के मालिक, विज्ञापन विभाग के व्यवस्थापक, सारे सह सम्पादकों, कम्पोजीटरों और प्रूफ रीडरों ने प्राण त्याग दिए और यह संसार छोड़ दिया।

सम्पादक थे श्री रिचर्ड होलकोम्बे, उम्र ८३ वर्ष और काम के घंटे दस।

आप ही खबरें बटोरते, विज्ञापन लाते, सम्पादन करते, कम्पोज करते। एक ही व्यक्ति करते इतना सब।

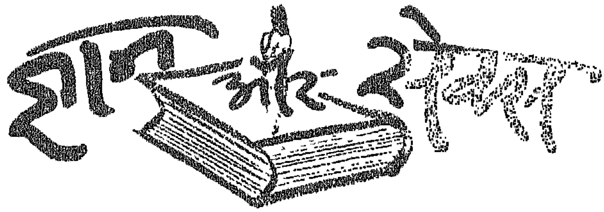
लन्दन में इस प्रकार का चित्र देख कर भारत के उन अखबारों का ख्याल करके कोई आश्चर्य नहीं होता, जहाँ संवाददाता खबर लिख कर, उसका प्रूफ पढ़ कर, पेज बनवा कर रात के बारह एक बजे घर लौटता है।

यही एक ऐसा प्राणी है जिस पर सुबह सुबह हाँकर की आवाज वैसा ही असर पैदा करती है, जैसे होटल मालिक के कानों में 'चाय गरम'।

रात-रात तक मशीन खबर उगलती है और सम्पादकर्थी हल से जुता रहता है। खबरें राशिफल नहीं होतीं जो दो दिन पूर्व तैयार हो सकें। खबरें परिक्रमा भी नही होतीं जिनमें लपफाजी की जाए। खबरें भाषण भी नहीं होतीं जो मौका देख लम्बी की जा सकें।

खबरें तो बिना प्रयत्न के उगी घास है, जिसे काटने वाला चाहिए। और सबसे आवश्यक यह है कि चरनेवाले चाहिए। खबरें तो रोज बनती है

भोर का तारक प्रायः लुप्ता
समस्त नगर सुप्ता
उठा कांग्रेसी
निकला कम्युनिस्ट
शुरू हो गई गाली- गुप्ता।



ज्ञान और प्रेरणा

ज्ञान अपना पंथ चलते कई बार लड़खड़ाया होगा, लँगड़ा हो गया होगा। ऐसे अवसरों पर उसने सदैव आगे बढ़ने के लिए किसी का सहारा खोजा है।

लँगड़े को सदैव अच्छा सहारा लाठी का मिलता है और यदि वह न हो तो वह अंधे के कंधे पर चढ़ जा सकता है।

अंधा तो प्रेम है।

इसी कारण ज्ञान को प्रेरणा प्रेम ने दी है। बहादुरों की तरह विद्वानों को भी प्रेरणा प्रायः महिलाएँ ही देती हैं। ज्ञान और सेक्स के सम्बन्धों पर बड़ा नाजुक विश्लेषण संभव है। जहाँ तक मेरा प्रश्न है मैं सौभाग्य से महिला और विद्वान दोनों नहीं हूँ।

अदन के बगीचे में सब आदमियों के पिता आदम ने निषिद्ध फल को, जो ज्ञान का फल था, हौवा स्त्री की प्रेरणा से खाया था। ज्ञान की प्राप्ति के लिए यह स्त्री की ओर से मिली पहली प्रेरणा थी।

और ज्ञान ने लज्जा को जागृत किया जो बाद में आकर्षण बन गई, कविता की भूल बन गई। साहित्य और ज्ञान आगे बढ़ने लगा।

सत्य के पर्दे हटाने की प्रेरणा पर्दों के पीछे से आई। भ्रम के घूँघट हटाने की शक्ति घूँघट की ओट से मिली।

पर घूँघट को ज्ञान से वंचित रखा गया। सचाई के दर्शन करने के लिए वह अपना बुर्का नहीं हटा सकी।

आकाश से जब वेद ब्रॉडकास्ट हो रहे थे तब ढोर चराते पुरुषों ने उसे सुना और रट लिया। घर आ कर पत्नियों को कुछ नहीं बताया।

ज्ञान की रजिस्ट्री सदैव बीबी के सामने करना पड़ती है। वेदों का युग चला गया, बटुक और ज्ञान का किस्सा समाप्त होकर नया सृजन हुआ; नाटकों का, कविता का, गीतों का, कथाओं का, जहाँ अभिव्यक्ति रूप के आसपास मँडराती रही।

ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में भी कालिदास थे, जो आदि-प्रेरणा के रतनारे संकेतों से पोथे लिखते रहे।

समय की चादरें हटीं। समाज से कलंक के मैले आँचल धुलने लगे। शरमाई आँखों ने सूरज की रोशनी देखी और देखा कि ज्ञान तो उनके बस का रोग है—प्रेम की तरह !

फिर कोमल उँगलियाँ टाइप पर चलीं और नाम अफसर का हुआ। हर दफ्तर में मोहम्मदअली अपने प्रधानत्व की संजीवनी से सम्बल लेकर कार्य करने लगे।

सलौने शरीर काउन्टर पर आए और बटुए से अभिलाषाएँ खनकनें लगीं। व्यापार का संतुलन रूप से बनने बिगड़ने लगा।

लजाई, स्नेह-रुद्ध, अटपटी वाणी माइक के सम्मुख आई; विधान सभा में प्रश्नों के उत्तर देने लगी।

ज्ञान और लालित्य की एकरूपता के इस लुभावने युग में कुछ पुरुष उस अज्ञान के अवगुंठन को ओढ़ रहे हैं, जिसे महिलाएँ फेंक चुकी हैं।

उस दिन राज्य सभा में यह शिकायत उगी कि लेडी इरविन कॉलेज का प्रिंसिपल एक पुरुष है और बहस बढ़ी तो एक सम्मानित स्वर ने जानकारी दी कि मध्यभारत में जीनोकोलोजी (स्त्री रोग शास्त्र) का प्रोफेसर एक पुरुष है ।

पुरुषों के लिए भी अब कुछ वेदों का पाठ वर्जित कर दिया जाना आवश्यक लगने लगा है ।

जब अपने केश को छोटे करा नारी वायुयान चला सकती हैं, पुरुष को दवाई दे सकती है, विज्ञान और राजनीति की प्रत्येक सीढ़ी पर ठुमक सकती है, तो बताइए पुरुष बेचारा स्त्री रोगों के सम्बन्ध में क्यों नहीं जान सकता ?

रोग का विशेषज्ञ उसी व्यक्ति को होना तो आवश्यक नहीं जिसे उस रोग के स्वयं को लग जाने का भय रहे।

जहाँ पर शेविंग स्टिक है वहाँ पर लिपस्टिक जा सकती है, जहाँ पर टाई है, वहाँ पल्ला जा सकता है, जहाँ पर डबल कफ है वहाँ कोमल कलाइयाँ जा सकती है, तो एक स्थान पर जहाँ दर्द है, ज्ञान की आवश्यकता है, वहाँ मूँछों का सम्मान इसी कारण नहीं हो सकता कि वह स्त्रियों से सम्बन्धित है ।

नारी पुरुष का अंतर जान ले, मन का सब पता लगा ले, मौका लगे तो दिल धाड़ कर ले जाए और पुरुष जो ज्ञान का परम्परागत एजेंट रहा है, इतना भी नहीं जान सके !



आज और कल भी पाँच का बड़ा महत्व और बोलबाला है और था। वर्षों पूर्व जब पंचनद के प्रदेश में आर्य ज्ञान की साधना कर रहे थे, तब से आज तक जब पंचवर्षीय योजना, पंचशील व पंचायत का राज है, यही पाँच हमारे झण्डे पर लहराता रहा है।

तत्व पाँच हैं, पृथ्वी, आकाश, जल, तेज, वायु। सब कुछ इसी पाँच के खेल हैं। पाँच ही रंग हैं, जिन्हें विद्वानों ने खोजा, शुक्ल, पीत, रक्त, श्याम, कृष्ण।

फिर ज्ञान बढ़ा, पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं--कान, त्वचा, आंख, रसना और नाक। सांख्य ने कहा कि प्रकृति से बुद्धितत्व, उससे अहंकार और अहंकार से पंचतन्मात्राएँ उत्पन्न हुईं, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध।

भाषा बनी, तो पाँच वर्ण हुए--कवर्ग, चवर्ग, तवर्ग, टवर्ग और पवर्ग।

दार्शनिक और मानव के लिए पाँच यम हुए--अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। वितर्कों के दमन के लिए पाँच नियम बने--शौच, संतोष, स्वाध्याय, तप, ईश्वर प्राणी धन।

तर्क ने पांच प्रवृत्तियाँ मानीं--प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति।

सिद्धि के यत्न हुए तो पांच मार्ग खोजे गए, पूर्व जन्म के संस्कार रसायन से, यन्त्र बल से, तपस्या द्वारा तथा समाधि द्वारा।

समाज में सिद्धों का जोर बढ़ा। निरंजन अलख के स्वर गूँजे। सिद्धों ने पाँच का पल्ला पकड़ा। कौलज्ञान में विष्ठा, धारामृत, शुक्र, रक्त, मज्जा, इन्हें पंच पवित्र कहा गया। पंच मकार कहे गए, मद्य, मत्स्य, माँस, मुद्रा और मैथुन।

पंच स्कंध थे--रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और ज्ञान।

पाँच बुद्ध स्वीकार किए गए--वैरोचन, रत्न संभव, अमिताभ, अमोघसिद्धि व अक्षोभ्य।

इस तरह जहाँ देखो वहाँ यही पाँच पांडवों से महाभारत को प्रभावित किए रहे। पंचमुखी रुद्राक्ष को सर्वश्रेष्ठ माना गया। प्रभु की मूर्ति को पंचामृत भेंट किया गया। पंजेरी बनाई गई जिसमें अब तो दो ही चीजें प्रमुख रह गई हैं।

छोकरियाँ पाँचे खेलती रहें, लड़के ताश में तीन दो पाँच करते रहें, मूर्ख तीन पाँच में व्यस्त रहें, साधारण समाज पाँच तक दफ्तरों में बैठा रहे, पत्नियाँ पंजपूड़े की हल्दी मिर्ची को डालती निकालती रहें, परन्तु पाँच की गंभीरता कम नहीं हुई।

माया के पाँच कंचुक कहे गए—काल, नियति, राग, विद्या, कला। पाँच क्लेश माने गए—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश।

तभी बुद्ध ने बौद्ध गृहस्थों के आचरण के पाँच नियम बनाए जिन्हें पंसिला कहा गया। वे थे—प्राणी हिंसा से विरति, जो अपनी नहीं उसे लेने से विरति, इन्द्रिय निग्रह, असत्य वचन से विरति, मादक द्रव्य और जुवे से विरति।

हिन्देशिया ने अपने राज्य के पाँच आधारभूत तत्व बनाए जिन्हें पांज्यशिला कहा गया। वे हैं जनता की प्रमुखता, मानवतावाद, ईश्वर में विश्वास तथा धार्मिक स्वतन्त्रता, हिन्देशिया की राष्ट्रीय एकता व राष्ट्रीय समृद्धि।

भारत-चीन समझौते ने बनाया पंचशील, जो पंचशिला कहलाता रहा।

यही सब पाँच आशा के संकेत बन गए।

गाँव की प्रगति के लिए पंच परमेश्वर की पंचायत, देश की प्रगति के लिए पंचवर्षीय योजना और विश्व के विकास के लिए पंचशील, के पाँच सिद्धान्त।

५, ५, ५, ५, सब ओर ५।

धुआँ

क्लर्क की जिन्दगी क्या है—फाइलों, सिगरेटों और बीबी-बच्चों की एक मजबूत कड़ी है, जिसमें वह गरीब जीव बँधा रहता है। चालीस तीन सत्तर, साठ तीन नब्बे और ऐसी ही जाने क्या क्या ग्रेडें जो मिलती जाती हैं ठीक नई बीमारियों की तरह और शरीर को अन्दर से पोला कर देती हैं।

हर क्लर्क एक सूखा हुआ अरमान है, हर क्लर्क एक चहकता हुआ श्मशान है। आप उसके दर्दे दिल को समझो न समझो, उसकी सारी उम्र एक अधूरा गान है।

जिस व्यक्ति ने कभी बालों में घुँघरू इस विश्वास से पैदा किए थे कि उसे अभिनेता बनना है। जिस व्यक्ति ने अपने सपने खादी के पालने में इसलिए झुलाए थे कि उसे नेता बनना है। जिसने जवानी में कारों को हसरत की नजर से देखा था। जो बाद में बेकारों और फिर क्लर्कों की पाँति में खड़ा हो कर जीवन भर साँसों की आवक जावक का लेखा जोखा देता रहता है। इस आदमी को क्लर्क कहते हैं।

जिसका जीवन 'बॉस' को समझने की एक दीर्घ जिज्ञासा है। जिसकी गुत्थी फाइलों में छुपा शासकीय रहस्यवाद है। जिसकी सफलता उससे अदेखी ही रह जाती है और जिसकी असफलता सदैव उसके सिर पर चढ़ी रहती है। जिसकी मुस्कराहट में खुशियों का अपमान है। जिसकी गुनगुनाहट एक मजाक है। जिसकी शक्ल एक मजार है और जिसका जीवन एक अप्रिय सर्कस।

उस क्लर्क के पास कागज और तम्बाकू की एक जलती छड़ सदैव आँखों को उलझाने का बहाना बन कर रहती है। सिगरेट का कश फाइलों और अफसरों के दर्दे सर से एक पलायन है, जिसका धुआँ क्लेरिकल कलियों में बसंत की बयार बन कर रहता है। एक क्लर्क बिना सिगरेट कुछ भी नहीं है। सरकार आदमी से काम करवाती है और आदमी सिगरेट से काम

करवाता है ।

अब सुना है कि सरकार उनके सूखे ओठों से यह सिगरेट भी छीन रही है । उनकी पतली दुबली उँगलियों में पड़ी यह सामयिक संजीवनी की व्यक्तिगत संपत्ति उनसे अलग कर रही है ।

बताइए, सिगरेट क्या कम्युनिस्ट पार्टी की एजेन्ट है जो क्लर्कों मे क्रांति ला देगी ? सिगरेट क्या वह चिनगारी है जो सरकार के कागजी कारखाने में आग लगा देगी ?

बराबर, हर अच्छी सिगरेट चाहे तो फाइलों को आग लगा सकती है । सिगरेट एक अच्छे सचिवालय के रेकॉर्ड को समाप्त कर सकती है ।

बात चाहे ठीक हो पर दार्शनिक दृष्टि से यह कितना बड़ा भ्रम है । सिगरेट फाइलों को जला देगी इससे ज्यादा भयंकर बात यह है कि उसकी अनुपस्थिति क्लर्कों को निष्प्राण कर देगी । और निष्प्राण क्लर्क उन फाइलों को सदैव निर्जीव ही रखेंगे । फाइलों का प्राण आदमी की कलम है, और कलम की शक्ति धुआँ है ।

बिना क्लर्क फाइलें क्या करेंगी? अगर क्लर्कों में शक्ति रही तो फाइलें हजार बन सकती हैं । सिगरेट से जितनी फाइलें जलेंगी उतनी उसकी शक्ति से अधिक तैयार होंगी ।

सारा शासकीय ढाँचा धूम्रज है—धुएं से जन्मा है । जो कुछ ठोस है उसके मूल में गैस है । टेबलें न रहें, कुर्सियाँ न रहें, तो क्लर्क क्लर्क रह सकता है, पर सिगरेट न रहे तो क्लर्क का जीवन बेतुके ब्रह्मचारी, या विफल-अरमानी बूढ़े की तरह हो जाएगा ।

पेन

मनुष्य के बचपन, जवानी और बुढ़ापे में वही अन्तर है जो पेम, फाउन्टेन पेन व कल्म में होता है।

सौभाग्य से हमारे देश में अशिक्षा अधिक है, अतः अभी कुछ वर्षों तक तो पेन का उपयोग ज्यादा नहीं बढ़ेगा। जो थोड़े बहुत हाथ कागज पर चलते हैं, उसी संख्या में खपत हो जाएगी।

फिर भी सरकार को बड़ा गर्व है कि देश में गजब के फाउन्टेनपेन बन रहे हैं और शीघ्र ही बड़े ऊँचे दर्जे के पेनों की खपत होने लग जाएगी।

मैं इसको संभव नहीं मानता। इसके कई कारण हैं।

एक कारण तो यही है कि देश में पढ़ना लिखना राष्ट्रीय संस्कृति के अनुसार सब का व्यवसाय नहीं। अतः जैसे झाड़ुओं की खपत केवल पत्नियों और भंगियों में होती है, उसी तरह पेन की खपत केवल पढ़े लिखों में होगी।

पेन उपयोग की वस्तु कम है और शोभा की अधिक। बड़े लोगों का पेन केवल यदा कदा दस्तखत करने के ही काम आता है, अन्यथा वह केवल सभ्यता प्रदर्शन का उपकरण मात्र है।

भारतीय ज्ञानी लोग लेखन के स्थान पर भाषण में अधिक विश्वास रखते हैं। शेष श्रोतागण भी केवल सुनने और मनन करने को ही लिख कर रखने की अपेक्षा श्रेष्ठ मानते हैं।

कुटीर उद्योग योजना भी फाउन्टेन पेन के स्थान पर बरू और होल्डर पर अधिक विश्वास रखती है।

दूसरी ओर जहाँ शीघ्रता की माँग होती है वहाँ पर टाईप कराना ही अपेक्षाकृत अच्छा समझा जाता है।

कार्बन का उपयोग हमें पेन से खींच पेन्सिल के निकट ला देता है। किन्तु भारतीय संस्कृति हमें कुछ और कहती है।

कालिदास के अनुसार पहले की पढ़ी लिखी सुन्दरियाँ भोजपत्र पर धातु रस से अपने प्रेमियों के लिये पत्र लिखा करती थीं, जिनके अक्षर

हाथी की सूँड पर मिलने वाले जल बिन्दुओं के समान सुन्दर होते थे ।

आजकल सुन्दरियाँ प्रेम पत्र कम ही लिखती हैं । काजल से पतियाँ लिखने के जमाने गए, व जहाँ तक हमारा प्रेम-पत्र लिखने का अध्ययन है-- उसमें उच्चारण की गलती बहुत होती है । इसका कारण यह है कि प्रेमिकाएँ भावना में डूब कर कला पक्ष पर ध्यान नहीं देतीं ।

पेन के कारण हस्तलेखन बहुत बिगड़ता है, ऐसा बम्बई के शिक्षाविदों का अध्ययन तथा अनुभव है । इसी कारण बम्बई के शिक्षा विभाग ने छात्रों के लिए पेन का उपयोग निषिद्ध कर दिया है । एक दृष्टि से तो यह भावुक राष्ट्रीयता ही है, क्योंकि अच्छे अक्षरों से व्यर्थ की बातें लिखने वालों की अपेक्षा बुरे अक्षरों से लिखने वाले गाँधीजी अच्छे थे ।

फिर बच्चों के हाथ से पेन छीनना उनमें हीन भाव जाग्रत करना ही है ।

पेन की ओर कौन नहीं आकर्षित होता ?

पण्डित नेहरूजी जो आज बड़े त्यागी और नेता व प्रधान मन्त्री हैं, अपने पिताजी के पेन पर ऐसे मचल गए थे कि चुराकर जेब में ही रख उनको सन्तोष हुआ ।

पेन उद्योग में वृद्धि मुझे संभव नहीं लगती । जहाँ तक पुरुष स्त्री के पत्र व्यवहार का प्रश्न है, ढाई अक्षर प्रेम के पढ़े सो पण्डित व पण्डितानी होय-इस सिद्धांत पर रहने वाले पत्र लिखने का कष्ट क्यों करने लगे !

पेन की खपत से राष्ट्र की बौद्धिक प्रगति का अन्दाज लगता है, पर साथ ही हम कागजी घोड़ों पर कितना विश्वास करते हैं और शारीरिक श्रम से जी चुरा कर कितने कलम के कीड़े बन रहे हैं, इसका भी अन्दाज लगता है ।

मैं पेन के खिलाफ और भी लिखता मगर अब चूँकि इसमें स्याही नहीं बची, इसलिए अधिक विरोध करने में असमर्थ हूँ ।

झपकी

संगीत और भाषण के अच्छे भले कार्यक्रम में खोजो तो झपकी लेते व्यक्ति मिल जाएँगे क्योंकि उस समय संगीत की सजीवता और रात के निंदीले प्रभाव में कशमकश चलती है।

निलम्बुर में जब कथकली नृत्य के कार्यक्रम में झपकी लेने वाले का पता लगाया गया तो उस व्यक्ति का नाम जवाहरलाल नेहरू निकला, जो देश का प्रधान मंत्री है।

उनसे जब कहा गया कि आप बजाय यहाँ सुस्ती फैलाने के जाकर सोते क्यों नहीं, तो बोले मैं इनाम बाँट कर जाऊँगा। यों जो कार्य-क्रम मंच पर चल रहे हैं, उनकी ओर मेरा ध्यान है।

आप जानते हैं इधर काफी सालों से नेहरू हमारा आदर्श है। कई ऐसे मामलों में भी जहाँ हम कुछ नहीं समझते।

कार्यक्रम कैसे भी हों, प्रायः बड़े मनोरंजक तरीके से आदमी को बोर कर देते हैं। आपकी सभ्यता आपको नहीं उठने के लिए मजबूर करती है तथा आपकी कला सम्बन्धी रुचि व अनुभूति उस कार्यक्रम में आपका मन नहीं लगने देती।

दिन का समय हो तो क्या बताऊँ, पर यदि रात का समय हो तो आप झपकी लीजिए। झपकी से आप अपनी इच्छा भी पूरी कर सकते हैं, तथा थोड़ी थोड़ी देर में गर्दन हिला कर "वाह वाह" भी कर सकते हैं।

झपकी मनुष्य के कर्मठ जीवन में दो क्षण को मिला स्वर्ग है। झपकी आध्यात्मिक सुख है, मुक्ति है, निवृत्ति है, एक मानसिक परिनिवृत्ति की धर्मशाला है।

झपकी जागृत और सोवत के बीच का झूला है, मीठा झूला।

नेता की यह आदत सभी नेता अपनी जिन्दगी या आंखों में उतारेंगे। जैसा नेहरू ने किया वैसा सभी मन्त्री करें, यह तो होता ही है, पर इस बार जैसा सब नेता करते हैं वैसा नेहरू भी करने लगे हैं। आखिर नेहरू

भी मनुष्य ही हैं।

खैर, तो मैं झपकी की बात कर रहा था और द्वितीय पंच वर्षीय योजना की विकासमयी नजरों से उस पर विचार कर रहा था।

झपकी का निर्माण पर बड़ा अच्छा असर पड़ता है। ताज महल के छत में अज्ञात सुराख किसी झपकी की देन है। चाँद में दिखाई देने वाले कोयले के क्षेत्र निर्माता की झपकी की पहचान है।

अगर झपकी नहीं आती, ध्यान नहीं बहकता तो अभी तक दुनिया बड़ी आगे होती। पर फिर भी झपकी आपको समय पर मित्र और प्रेमिका सी नजर आती है। जैसे कोई आपको भरी महफिल से अपनी नाजुक उंगलियों में बाँध कर दूर कुहरे की नशीली घाटियों में ले जा रहा हो। और आप खिंचे चले जा रहे हों।

झपकी में देवत्व है, क्योंकि भगवान कभी नहीं सोते। उनकी आँखें चौकीदार की तरह खुली संसार की सड़क देखती रहती हैं, पर वे झपकी ले लेते हैं। जब जब गरीबों ने आवाज लगाई, सदा जागने वाला भगवान झपकी ले लेता है।

झपकी में एक मानसिक विद्रोह है। चौकीदार की पगार कम है, जितने प्रतिशत कम है, वह उतनी झपकी लेता है।

यही जीवन का क्रम है। सात दिन काम में एक दिन छुट्टी और सात घंटे काम में एक घंटे झपकी।

झपकी में सपने की झलक मिलती है। सपना सुख व आदर्श जैसी चीज है; जो तकदीर में नहीं होता वह सोते में मिलता है। जो टेबल पर नहीं मिलता, वह झपकी में दिखता है।

अतः नेहरू हो चाहे आप, झपकी बड़ी जरूरी चीज है क्योंकि वह कर्म की कटुता से आपकी रक्षा करती है। उदाहरण के लिए मैं परिक्रमा लिख रहा हूँ। क्यों नहीं जरा झपकी ही लूँ। तो—बस।

धुआँ और साहित्य

कुछ दिन पहले कहीं पढ़ा था कि एडगर वेलेस ने अपना सर्वश्रेष्ठ उपन्यास सिर्फ तीन दिन में पूरा कर डाला और उसका एक मात्र कारण सिगरेट थी। सिगरेट पिये बिना वह कुछ सोच नहीं पाता था।

सिगरेट और साहित्य-निर्माण का कुछ सम्बन्ध अवश्य है। कलाकारों के ओठों से चिपकी सिगरेट ने देश की सांस्कृतिक जागृति में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

एक सिगरेटी साहित्यकार से पूछा था तो कहने लगा कि इससे 'मूड' जम जाता है। याने उपकरण सूझने लगते हैं, कल्पना उभरने लग जाती है; सिगरेट के धुएँ की तरह साहित्य बनता जाता है।

आदमी की बात क्या ? . . .पत्थर की मूरत से ध्यान लगा कर घंटों बैठ सकता है। सिगरेट के धुएँ से मन रम जाना स्वाभाविक है।

गरज यह है कि सिगरेट और साहित्य के विषय में एक साथ सोचना गलती नहीं है।

सोमरस ने वेद की ऋचाएँ, हुक्के ने गजलें व शेर, अफीम ने वीरकाव्य हमें दिया है। सिगरेट ने छायावादी और प्रगतिवादी साहित्य में साँसें भरी हैं।

नवीन जी की सिगरेटी अदाएँ जिसने देखी हैं उसे इसका महत्व समझ में आ गया होगा। बच्चन, जाफरी, सुमन, कृष्णचन्दर भी इसी प्यारे रोग के मरीज हैं। यशपाल को चार मीनार सिगरेट पसन्द है। उसके पात्र यही पीते हैं। एक बार एक परिचित ने चार मीनार की बड़ी पेटी भेंट कर दी, जिसे यशपाल तीन चार माह तक पीते रहे। पंत ने अपनी एक प्रारंभिक कविता सिगरेट की राख पर ही लिखी थी। और विदेशी लेखकों की तो बात ही क्या ?

सिगरेट में दर्शन है, प्रेरणा है, साहित्य को जीवित रखने वाली पावन धारा है। नई धारा में एक कविता प्रकाशित हुई थी जिसके अंत में लिखा था—

अब क्या कहूँगा खाक
सिगरेट तो हो गई राख ।

अब कलाकार के दर्द को समझिए । सिगरेट कितनी जरूरी है । सरकार हर साल कुछ साहित्यिकों को हजार पाँच सौ रुपया देती है; वह सब से सिगरेट ही खरीदेगा ।

आज साहित्य में गत्यावरोध कहा जाता है । इलाहाबाद के धर्मवीर भारती कहते हैं कि उन्हें उपमा नहीं मिलती । बेचारे परेशान हैं ।

देश की आजादी के बाद भाषणों का बढ़ना और साहित्य का घटना शुभ लक्षण किसी हालत में नहीं है । सरकार को तो फुर्सत नहीं, मगर साहित्यिक संस्थाओं को इस पर गंभीर होकर सोचना चाहिए । सिगरेट पर ड्यूटी कम की जाए, कलाकारों को सस्ते भाव सिगरेट का वितरण हो, यह हमारा नारा होना चाहिए । यह आंदोलन देशव्यापी रूप धारण कर सकता है, लगन की आवश्यकता है ।

विरोधी कहेंगे कि रवीन्द्रनाथ, या बर्नार्ड शॉ सिगरेट नहीं पीते थे । मत मानिए, यह तो बच्चन और जाफरी का युग है । हमारे आंदोलन को इनकी प्रेरणा चाहिए । टंडनजी से पूछने जाएँगे तो सारा मामला बिगड़ जाएगा ।

इधर कुछ बातें और ध्यान देने की हैं ।

प्रत्येक देश के लोग एक विशेष प्रकार की सिगरेट पसन्द करते हैं । अमरिका में कुछ और तथा फ्रांस में कुछ और । प्रत्येक देश के साहित्य में भी अपनी विशेषताएँ होती हैं । जरूर सिगरेट के प्रकार से साहित्य की विशेषताओं का सम्बन्ध होगा । अध्ययन की आवश्यकता है ।

इस प्रकार नए युग के साहित्य का सिगरेट के प्रकारों के अनुसार विश्लेषण किया जाए, जैसे वर्जीनिया--साहित्य, टर्किश, हेवेन्ना-साहित्य, आदि ।

मैं सोचता हूँ आज हमें नए दृष्टिकोण की आवश्यकता है, नए मापदण्ड खोजना है, तो यह दृष्टिकोण क्या बुरा है ? सिगरेट का दृष्टिकोण एक नया जलता हुआ दृष्टिकोण होगा । बस हिम्मत चाहिए । सिगरेट पीकर वाल्टर रेले दुनिया घूम गया था; हम साहित्य घूम सकते हैं ।

और टॉमस डी क्वेंसी ने जिस प्रकार 'एपॉलॉजी ऑफ एन ओपियम ईटर' लिखी है, उसी प्रकार अपने बुढ़ापे में हर कलाकार को 'एपॉलॉजी ऑफ ए स्मोकर' लिखना चाहिए ।

भौं भौं

जब मैं रात को लौटता हूँ, तब मोहल्ले के कुत्तों द्वारा मेरे प्रति जो सम्मान प्रदर्शित किया जाता है, उसका ख्याल कर मैं इस विषय में कुछ कलापूर्ण तरीके से भौंक सकने की स्थिति में नहीं हूँ।

पर जब कलकत्ता और लन्दन की श्वान प्रदर्शिनी के विषय में पढ़ा तो मुझे कुछ अजीब सा लगा। बम्बई के एक क्लब द्वारा अभी जो प्रदर्शिनी आयोजित की गई, उसकी भी कल्पना करता हूँ तो मुझे आश्चर्य होता है कि डा. राव किस प्रकार से सब को एक स्थान पर इकट्ठे कर सके होंगे।

यों कुत्तों का सम्मान मनुष्य से ज्यादा भी कई जगह किया गया है, और इनसे भय भी पुलिस से ज्यादा ही लगता है।

सभ्यता और संस्कृति की स्लेज गाड़ी खींच कर लाने में कुत्तों के बड़े पैर रहे हैं। आज से कई वर्ष पूर्व जब दौर नव कृषि सभ्यता का राम बन कर रम रहा था, कारवाँ यायावरों का बस रहा था, जम रहा था, तब कुत्ते आकर मानव समाज के निर्माण में सहयोगी हो रहे थे।

पर सभ्यता के इतिहास को पढ़ने पर पता लगता है कि मनुष्य हाथी की तरह आगे बढ़ता गया और कुत्ते भूँकते रहे। केवल धर्मराज युधिष्ठिर ही उसे इन्द्र के रथ में बिठा कर ले गए, केवल भगवान भैरवनाथ ने अपना प्रेम का हाथ उस पर रखा। न जाने कौन गद्दार था जिसने कुत्तों का उपयोग गाली के अर्थ में किया। नारद पुराण में नर्क के कुत्तों का चित्रण किस भयपूर्ण ढंग से किया गया है, कल्पना करके डर लगता है।

भारत के स्वर्ण युग में जब लोग घरों में ताले नहीं लगाते थे, तब कुत्ते ही रक्षक थे।

नगर सभ्यता के विकास के साथ ही कुत्तों की सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ गई।

दार्शनिकों और कलाकारों ने महसूस किया कि मनुष्य में कुत्ता इस नाते श्रेष्ठ है कि वह ईमानदार है, लेकिन बोल कर नहीं सुनाता।

इसी कारण कवि बायरन ने अपने कुत्तों पर कई पंक्तियाँ लिखीं। पोप ने लिखा कि मनुष्य के इतिहास में मित्रों के बजाय कुत्तों की विश्वसनीयता के अधिक प्रमाण हैं।

हिन्दी साहित्य में भी कुत्ते अध्ययन का विषय हैं। सोचना है कि प्रेमचन्द ने किन सामाजिक परिस्थितियों के कारण कुत्तों की कहानियाँ लिखीं। कृष्णचन्दर को क्यों कुत्तों ने काटा? अजीमबेग चगताई ने किस आधार पर अपनी कहानी में कुत्तों का विश्लेषण किया और प्रभाकर माचवे की लिखी कुत्तों की डायरी का पात्र कहाँ है?

कवि वाल्टर सेवेज लेन्डर अपने कुत्तों को अच्छा आलोचक मानता था। श्रीमती ब्राउनिंग अपने रुग्णावस्था के दिनों में उस खाली कमरे में कुत्तों से मन बहला समय काटती थीं।

इस प्रकार से अब मनुष्य का प्यार कुत्तों से बढ़ रहा है।

न्यूयॉर्क की एक खबर थी कि एक सज्जन ने अपनी पत्नि को तलाक इसी कारण दिया कि वह उसके कुत्ते को ठीक से खाने को नहीं देती थी। सोचिए, अमरीकी पत्नियाँ कुत्तों का भी सम्मान अपने पति की तरह ही करती होंगी।

बच्चन ने रात को भूँकते कुत्तों को अपनी व्यथा का प्रतीक मान कहा है, "ये मेरे अरमान भूँकते, रात रात भर श्वान भूँकते।"

भारत में कुत्ते व्यक्तिगत संपत्ति कम होते हैं, सामाजिक संपत्ति अधिक। कुत्ते प्रायः पूरे मोहल्ले के धन रहते हैं।

भारत श्वान-पालक राष्ट्र है।

रोज इनके लिए रोटी निकालना धर्म है। भारत की नारियाँ नाडिया की तरह अपने व्यक्तिगत टायगर या मोती रखें तो क्या बात है!

३१ तारीख को जब बम्बई में श्वान प्रदर्शिनी हो रही थी, तब मैं समझा था शायद हमारे मोहल्ले से भी प्रतिनिधि गया होगा।

पर जब रात को आ रहा था, तब कुत्ते जरूरत से ज्यादा खफा हो रहे थे। शायद वे राहगीरों से यही पूछ रहे होंगे कि क्या हम प्रदर्शन योग्य नहीं हैं।

मैं क्या कहता? सोचता हूँ यहाँ किस क्लब या संस्था से ऐसी प्रदर्शिनी आयोजित करने के लिए दुम हिलाऊँ!

ताजनीति दर्शन

मिलने को तो इस संसार में क्या नहीं मिलता, दीपक से लेकर दार्शनिक तक सभी प्रकार के जीव पाए जाते हैं। 'मगर एक चाहने वाला बड़ी मुश्किल से मिलता है।' कहने वाला शायद 'एक' पर जोर दे रहा है क्योंकि बहुत-सी चाहने वाले तो हर जगह हैं, पर इस पूंजीवादी युग की एकत्रीकरण-प्रवृत्ति का नाश हो, एक चाहने वाला बड़ी मुश्किल से मिलता है।

पुरुष की आँख एक से अनेकत्व की ओर बढ़ती है और अनेकत्व में एकत्व पाती है।

इस कारण प्रेम कथाओं में वे कथाएँ ज्यादा ऊँची मानी गई हैं, जिनमें नायक एक का पीछा साल दाम किया करता है।

श्रीमती इंडोनेशिया प्रधान मंत्री शास्त्रोमिजोजो इसी कारण ताज महल पर आकर बाग-बाग, लहर-लहर हो गईं।

आपका कहना है कि हर पति को पत्नि से इतना प्रेम रखना चाहिए, जितना शाहजहाँ अपनी मुमताज से रखता था।

बात ठीक है, पर परिणाम बड़े भयंकर हैं।

प्रत्येक युग में समस्त राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक मान्यताओं, स्थापनाओं, निश्चयों व कार्यक्रमों के पीछे एक दार्शनिक पृष्ठभूमि होती है। उसी एक दर्शन पर विभिन्न ढाँचों का निर्णय किया जाता है।

'रेशनलाइझेशन' आर्थिक क्षेत्र में नवीन आदर्श बना है, चाहे स्वार्थी जनता उसे बेकार हो जाने के डर से स्वीकार न करे, पर वह आदर्श तो है।

यदि कम श्रमिकों द्वारा अधिकतम उत्पादन का सिद्धांत और दर्शन पुरुष स्त्री के क्षेत्र में भी बनाया जाए तो?

क्योंकि ताजमहली युग गुजर चुका, जब कि एक मेहनतकश को केवल एक कार्य दिया जाता था और दूसरा करने की स्वीकृति न थी।

ताजमहल में काम करने के पश्चात वे कहीं और काम न कर सके।

उनके हाथ काट लिए गए।

अर्थात मनुष्य अपने जीवन में केवल एक काम करता रहे और अपनी सब क्षमता का उपयोग उसी में करे, यह शाहजहाँ की नीति थी।

दो मत नहीं कि यही नीति उसने अपनी पत्नि मुमताज के लिये भी अपनाई थी।

एक दो तीन चार पाँच छः सात आठ नौ दस ग्यारह बारह तेरह व चौदह बच्चे उससे शाहजहाँ ने प्राप्त किए थे। मरते समय भी वह एक बच्चा दे गई थी।

अब यदि शाहजहाँवादी प्रेम को आदर्श मानें तो आज के पति को चाहिए कि वह पत्नि-प्रेम की हवाई कविताई बातें न कर थोड़े-थोड़े माहों में एक नए बच्चे की माँ अपनी पत्नि को बनाए और समाज के सम्मुख अपने प्रेम का प्रदर्शन सबूतों के साथ पेश करे।

पर इस प्रकार आँकड़े बढ़ाने का प्रयत्न व्यर्थ है। जनता तो एक बार तैयार हो जाएगी, मगर यह सरकारी नजर से बुरी बात है। हमारे युवक आज भी शाहजहाँ हैं और हमारी युवतियाँ मुमताज हैं, पर आदर्श बदल गए।

श्रीमती शास्त्रीमिजोजो का तात्पर्य शायद इस बालकों के उत्पादन की ओर न होकर उस संगमरमर की यादगार की ओर होगा, याने ताज-महल की ओर।

पर आज की नारी को यह स्वीकार नहीं हो सकता।

वह युग तो अपने रास्ते गया जबकि 'आज ले, और मरने के बाद देना' वाली नीति और भावना थी। नई नारी 'इस हाथ ले और उस हाथ दे' के युग की है।

वह मरने के बाद के बजाय तत्काल ही दिए जाने वाले उपहारों पर विश्वास करती है। सौन्दर्य प्रसाधन, सिनेमा, वस्त्र, जेवर, रेडियो, कार और विरोध के लिए ऑपरेशन में ही वह पति को शाहजहाँ बनाकर लूट लेती है।

पति का नुकसान यही है कि वह शाहजहाँ सा नाम नहीं कर पाता। पत्नि के मरने के बाद वायदों की हुंडी छुड़ाना ज्यादा फायदे का है।

पर जो पत्नियों के नाम पर जायदाद छोड़ 'खुश रहो अहले वतन' कहते इस जमीन से सफर कर जाते हैं, वे सदैव धोखे में रहे।

किसी मुमताज ने अपने शाहजहाँ के लिए ताज नहीं बनवाया। अधिक से अधिक एक धर्मशाला खड़ी की ताकि विधवा नए यात्रियों के दर्शन करती रहे।

आजादी, गुलामी

यों बिना गुलामी के आजादी का आनन्द पता नहीं लगता। मुक्त पंछी पंख का उपयोग करता है और आसमान में उड़ा-उड़ा फिरता है, परन्तु जो कई दिनों से पिंजड़े में बन्द है, वह समझता है कि आजादी के क्या मजे हैं।

खैर! दूसरी बात है आजादी की गुलामी की। हम आजाद होते हैं इसलिए कि नई गुलामी सिर पर लें।

कई साल पहले स्वदेशी वस्त्र आजादी के लिए पहना गया था और आज वही वस्त्र इस आजादी की गुलामी के कारण पहना जाता है।

याने मौत से यों बचे कि बीमार हो गए;

आजाद क्या हुए गिरफ्तार हो गए।

स्त्रियाँ स्वाधीन हुईं और अपना सौन्दर्य खुद बनाने लगीं। पहले पुरुष की गुलाम थीं तो जैसा वह पहनाता था वैसा बंधन के कारण पहनना पड़ता था। जब आजाद हुईं तो कपड़े की गुलाम हो गईं, लिपस्टिक की गुलाम हो गईं।

पहले जिनका सौन्दर्य दूसरे की गुलामी करता था अब वे खुद अपने सौन्दर्य की गुलामी करती हैं।

जैसे प्राचीन साहित्य में हम पढ़ते हैं कि वह जब जा रहा था तो मार्ग में उसे एक सुन्दर स्त्री मिली देखने को। यह मिलाप इस कारण हो गया था कि लोगों को बाएँ हाथ चलना आवश्यक नहीं था। वे दाएँ-बाएँ जैसे चाहे चल सकते थे।

हम सभ्य हुए, आजाद हुए और बाएँ चलने लगे। अब सुन्दरियों का केवल पीछा कर सकते हैं, परन्तु मिल नहीं सकते। यों इन्दौर की बात छोड़ो जहाँ कि सुन्दरता सदैव जन-सुविधा का ख्याल करके गलत साइड जाती है। पर एक मोटी बात मैंने कही।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए सब जगह आंदोलन होता है, ताकि हर आदमी जो चाहे लिख सके। पर इस स्वतंत्र-अभिव्यक्ति-प्रिय महा-

पुत्र की ही गुलामी का उदाहरण लो कि पहले परिक्रमा की आजादी को तड़फता था और अब परिक्रमा की गुलामी में तड़फ रहा है; जिसके बिना न चैन है न रास्ता ।

असभ्य राष्ट्र जो पिछड़े हुए हैं, वे अपने मन के मुताबिक करने में ज्यादा स्वतंत्र हैं, वे गालियाँ बक सकते हैं, वे तारीफें कर सकते हैं, मगर सभ्य मुल्क में अपनी स्थिति का लिहाज़ हमें धूल में भी नहीं बैठने देता ।

तो आजादी की गुलामी के बाद जो दूसरा चक्कर आता है, वह गुलामी की आजादी का है ।

मैं किसी भी जगह नौकरी करूँ, मालिक की जितनी चाहे सेवा करूँ, इसकी मुझे आजादी है ।

कोई किसी भी अभिनेत्री के पीछे मारा मारा फिरे, उसे इस रूप की गुलामी की आजादी है ।

किसी भी वाद, मत या व्यक्ति के विचारों को अपने जीवन में ओढ़ मानसिक गुलाम बना रहूँ, इसकी मुझे आजादी है ।

याने आजादी की गुलामी यह है कि कोई षोड़षी वृद्ध से विवाह नहीं कर सकती, और गुलामी की आजादी यह है कि कोई पति अपनी पत्नि का सदैव भक्त बना रह सकता है ।

तलाक और नौकरी छोड़ देने का अधिकार मेरी नजर में आजादी की आजादी है । इसमें न गुलामी की आजादी है, न आजादी की गुलामी ।

जो व्यक्ति वोट नहीं देता अधिकार होते हुए, वह आजादी से आजाद है । जिन्हें वोट देना ही पड़ता है वे आजादी के गुलाम हैं ।

और जो परम्परा निभाने की बात है, हर स्थान पर सभ्यता, धर्म आदि कारणों से जो रीति रिवाज कायम हो गए, जो नए ढंग की गुलामियाँ शुरू हो गईं—उन्हें सदा मान कर चलना गुलामी की गुलामी है ।

आदमी एक कार्य में आजादी को आजाद हो जाता है, फिर गुलामी को आजाद होता है और फिर गुलामी का गुलाम हो जाता है ।

आदर्श और पशुत्व

कौन जाने केन्द्रीय उप मंत्री कृष्णप्पा की बात आपको जँची हो या नहीं, पर मुझे तो यह पसन्द आया है कि आदर्श मंत्री में चार पशुओं के गुण होने चाहिए।

सब ऊँट सा खाएँ, भैंस सी चर्बी रखें, कुत्ते सा सोएँ, और गधे सा काम करें।

गाँधीजी ने अपने आदर्शों में तीन बन्दरों को ही स्थान दिया था। दत्तात्रेय तो सभी को गुरु मानते थे, मगर चार पशुओं का यह नया थीसिस यदि एक प्रारंभिक सीढ़ी के रूप में लें तो हमें मंत्रियों को आदर्शवान बनाने के लिए चिड़ियाघर में रखना पड़ेगा।

यों सभी पशुओं में कुछ न कुछ आदर्श खोजा जा सकता है। जैसे खरगोश को लीजिए जिसने सिंह को छाया दिखा कर अपनी जाति को विनाश से बचाया था। पर वही खरगोश कछुए से रेस करते समय रास्ते में सो गया और बदनाम हो गया।

अब बताओ यदि यही आदर्श बन जाए, तो योग्यता याने दिमाग के बावजूद भी खरगोश सा आलसी बनना कैसे किसी मंत्री के लिए अच्छा होगा?

और वह कछुआ भी जब लकड़ी पकड़ कर उड़ रहा था, तब जरा सा मुंह खोल देने के कारण मर गया।

माना कि खरगोश के विश्वास में शेर मारा गया, पर कंकण हाथ में लिए ब्राह्मण को कीचड़ में फँसा देख आहार करने जैसा अक्ल का काम या तो मंत्री कर सकता है या बूढ़ा शेर।

भारत शासन की अशोक सील पर तीन शेर बने हैं। वख्त वख्त की बात है, जब शेर जाल में फँसा तो चूहा ही उसके काम आया था। उस समय शेर की सारी बहादुरी धरी रह गई। और उस समय भी जब बुढ़िया ने कहा कि मैं तो मोटे टपके से डरती हूँ, तब घर के पीछे खड़ा शेर मोटे

टनके से डर गया था। शेर में कुछ विशेष बात नहीं है। तीसमारखां शेर को गधा समझ उसे कान पकड़ कर ले आया था।

यही प्रश्न गड़बड़ के हैं। कृष्णप्पा का विश्वास है कि मंत्रियों को कुत्ते की नींद सोना चाहिए। पर यदि यही आदर्श कुत्ता--तत्व कभी माईक के सामने जागृत हो गया तो? कभी अपनी जाति या पार्टी के बन्धुओं को देख जागृत हो गया तो? और यदि नेता हिज मास्टर्स वॉइस की तरह लवलीन आज्ञाकारी हो जाए तो?

सोने तक तो ठीक है, पर यदि मुंह में रोटी ले पुल पर से जाते समय छाया देख भूंके और अपनी रोटी खो दे तो चाहे वह कैसा भी मंत्री हो, न घर का रहेगा न घाट का!

भैंस की तरह चर्बी होना चाहिए! मगर आप सोचिए आखिर अकल बड़ी कि भैंस?

और तो और कृष्णप्पाजी ने यहाँ तक कह दिया कि उसे गदहे की तरह काम करना चाहिए।

यह योजना का युग है, दिमाग की जरूरत है, गधे की तरह काम करेंगे तो अगले चुनाव में बैल कैसे जीतेंगे? गधे का काम है नम्रता पूर्वक जो पीठ पर है उसे ढोना।

पीठ पर होती है मिनिस्ट्री, डिपार्टमेंट,--बस ढोइए पाँच साल तक, फिर लायसेंस रिन्यू करा लीजिए। या अपने किसी बन्धु को दे दीजिए, तो वह ढोएगा।

अतः यह पशुत्व के आदर्शों की बात जँच जाती है, पर इसमें खतरे बहुत हैं। आदर्श किन पशुओं से सीखें?

मैंने गाँधीजी के तीनों बन्दर देखे हैं। एक ने यथार्थ से आँखें बन्द कर रखी हैं, मुह से आदर्श व बुराई बकता है। दूसरा कान से अन्यों की तारीफ नहीं सुनता, और मुंह खोल खुद ही की तारीफ में व्यस्त है। तीसरा बन्दर मुंह पर हाथ रखे सच कहने से डरता है।

तीनों बन्दरों की कुल जोड़ शिक्षा यह है कि आप अपने कान, आँख, मुंह तीनों बन्द रखें।

फिर आपको कौन नेता मानेगा और कौन मंत्री बनाएगा?

पंखयुक्त कला

कभी कभी पिछला साहित्य पढ़ते हैं तो लगता है जैसे चिड़ियाघर में बैठे हों। एकाएक कई पंछी एक साथ चहचहा जाने से हल्ला तो जरूर होता है पर मन में स्फूर्ति सी लगती है।

आजकल के साहित्य में पंख झड़ते जा रहे हैं। वे पुराने मीठे बोल कभी दूर के एकाध अकेले पेड़ से सुनाई देकर ठिठके रह जाते हैं। यों भी आज के आदमी को पक्षियों के आने जाने का पता नहीं लगता।

'प्रिय चंचु खोल, रस विविध घोल, कुहु-कुहु पिहु-पिहु के मधुर बोल' अब नहीं रहे।

अब उन चातकों, उन पपीहों, मोरों, कोयलों सब के भाषण के अधिकार छिने जा रहे हैं। यों कभी कभी कोई बोलता है, जैसे केदार ने कहा कि 'बड़ी रात गए, कहीं पपीहा पिहका किया,' बात में जरा लापरवाही लगती है। अज्ञेय कहते हैं 'धीरे धीरे उदित रवि का लाल लाल गोला, चौंक कहीं पर मुदित बनपाखी बोला।'

अरे एकाध बनपाखी कहाँ, वहाँ तो भीड़ पड़ती है गाने वालों की। पर समूह के स्वर अज्ञेय क्या जाने!

वह गुल और बुलबुल का काव्य अब रुक गया, नहीं तो हजारों शेर इसी पर गरजते थे। यों ईरान में जिस किस्म की बुलबुल होती है वह भारत में नहीं होती।

ठीक यही हाल मोर का है। जी, जंगल में मोर नाचा किसने देखा?

एकाध भवानी मिश्र नाच उठे कि 'और सखी सुन मोर। बिजन-बन दीखे घर-सा री," तो क्या होता है। एकाध पंत 'म्याउँ म्याउँ रे मोर' कह बैठे तो क्या होता है।

पिछले वक्त में पक्षी और साहित्य का संबंध यह था कि तू 'डाल डाल मैं पात पात।' आदमी और पंछी तब साथ साथ थे। सुमन के शब्दों में "चाहा चहचहाता था—अँधेरी रात में कोई खड़ा खेतों की मेड़ों पर

बिकल विरहा सुनाता था ।' पर अब तो 'सुमन' कहते हैं 'पपीहा है प्यारा कि दिल का उदासा ।'

अभी थोड़े दिन पूर्व एक पुरानी रचना पढ़ी थी तो एक जगह यह पढ़ने में आया :

"मारे खुशी के सब इकट्ठे हुए। कबूतर नगाड़े बजाने लगे। कोयलें नफीरी का स्वर भरने लगीं। गोरैयों ने मजीरे का काम किया। पिढ़-कियों ने तबले पर थाप दी। मोर नाचने लगे। फिहिया फुदकने लगी। चकोरों ने रोशनी का सामान किया।"

अब वह जमाना गया ! कहानियाँ सुनाने का काम 'तोता मैना' के हाथ से छीन लिया गया ! अब सब कम हो गया, और कहीं-कहीं बाँसों का झुरमुट, टी वी टी...टुट टुट सरीखी चीज पन्तजी कहते हैं।

युद्ध विरोधी आंदोलन चला। पिकासो ने एक कबूतर बनाया। मैंने सोचा कि अब जरूर ही यह साहित्य में फड़फड़ाएगा। थोड़ी सी कबूतरी कविताएँ बनीं थीं पर यह 'गुटरगू' जाने क्यों आगे बढ़ न सकी।

याने युद्ध विरोधी रचनाएँ तो काफी लिखी गईं पर कबूतर छतरी पर नहीं आया।

अब साहित्य में चिड़ियाघरी प्रवृत्ति का जगना आवश्यक है। ध्वनि के प्रयोग की बात की जाती है, मगर चिड़िया उड़ जाने पर ध्वनियाँ कहाँ रहेंगी ?

कवि लोग कहते हैं कि अब कविताओं में ज्यादा पक्षी जँचते नहीं। लोगों की आदतें बदल रही हैं। बटेरें अब लड़ाई नहीं जाती। फिर क्यों बेकार में हमीं और कबूतरों से अपना संदेश भेजें।

पर दोस्तों, जरा प्रयोग करो ! सारंगियों और पढ़कुलियों की ध्वनि जाकर सुनो ! जंगल में जाने से डर लगता हो तो किसी बाग के चिड़िया-घर में चले जाओ।

दो तीन साल पहले वंशीधर शुक्ल की एक कविता पढ़ी थी। बवंडर के आने का चित्र खींचा गया था। लिखा था –

"कोइरी किकियाय लगी, पपीहा पपिहाय लगा, तोता टिटियाय लगा बुलबुल बिल्लाय लागा, मोरवा चिल्लाया लगि, भौंरा भर्राय लगे, बयन की झोंझ टूटि, धरघुच्च के घर उजड़े, खडरेहल के जीव मरे, रस मा बिखु घोर दिहिसि ,बोड़ुर झकझोर दहिसी ।"

आज की कविता में गति लाओ, जिन्दगी लाओ, मेरे दोस्त ! नहीं तो साहित्य में वह मोहन राकेश की मुर्गे वाली कहानी के शीर्षक की तरह 'पंखयुक्त ट्रेजेडी' होकर रह जाएगी।

बस पीहू पीहू !



गुलाबी संस्कृति

अब गुल और बुलबुल के खानदान में झगड़े शुरू हो गए हैं। एक फूल को रंगीन कर देने के लिए अब बुलबुल कांटों की सूली पर अपने प्राण नहीं देती।

अब भ्रमर अपनी रातें गुजारने किसी कमल पर नहीं जाते।

जाते भी हों तो पता नहीं।

अब कालिदास और गालिब का वक्त गया। वह नजर मर गई जो कभी फूल और जवान लड़की को देख कर छंदों की सृष्टि करती थी।

लड़कियों, तुम चाहे जितनी सजो, सँवरो और नगर में घूमो, पर वह अच्छा अतीत गया जब कोई कालिदास तुम्हें काव्य की नायिका बना देता।

अब तुम्हारे सौंदर्य पर समर्पण करने के लिए कोई व्यक्ति सॉनेट लिख कर भेंट नहीं करता। अब...अब तुम्हारी नजरों का भार उठाने शायरियां नहीं आतीं।

और इसी प्रकार बसन्त आ जाता है। मास्टरनी की आज्ञा से लड़कियां पीली साड़ी पहन लेती हैं। धीरे धीरे बहार चली जाती है। ऋतु शृंगार कोई नहीं लिखता क्योंकि आज का मनुष्य सराफे का मनुष्य है, बगीचों बहारों और कविताओं का मनुष्य नहीं।

और ऐसे मनुष्य के लिए फूल फलों की प्रदर्शिनी आयोजित की जाती है। अभी देहली में यही हुआ था। कई बगीचों के फूलों को पुरस्कार मिला।

देहली के लोगों ने अपनी आंखें ठण्डी की होंगी। क्योंकि उन्हें फूल छूने को नहीं मिलते।

आज का मनुष्य साधारणतः माह में एकाध बार कोट पर फूल लगाता है। गरीबों को कौन हार पहनाता है (सिवाय नेहरूजी के)?

फूल अब कपड़ों पर छपते हैं और प्यासे व्यक्ति उसका बुशर्ट पहनते हैं।

ये कवि लोग जो रजनीगंधा और मालती की बात करते हैं, इनके

पिता जायदाद में इनके लिए कोई बगीचा नहीं छोड़ गए। ये आम के बौर नहीं छूते और बसंत पर प्रयोग लिखते हैं।

याने गुलाबी—संस्कृति अब खत्म हो रही है। टेबलों पर कागज के फूल और अखबार रह गए हैं, गुलदस्ते मुरझा गए हैं।

आज की नारियाँ फूल जमाने की कला में निपुण नहीं होतीं। सोलहवीं सत्रहवीं सदी में जापान में फूल सजाना और कमरे का सौंदर्य बढ़ाना अलग कला थी। चाय के कमरे फूलों से सजते थे। जापानी लड़कियों की पढ़ाई का आवश्यक विषय था फूल सजाना या "इकेबोना।"

फूल सजाना कविता लिखने जैसा है। अज्ञेय ने कहा है:—

छंद है यह फूल, पत्ती प्रास।
सभी कुछ में है नियम की साँस॥

जापान में अनेक दार्शनिक धाराएँ इसके पीछे चलती थीं। जो बीच की डाली थी वह प्रमुख शक्ति या स्वर्ग मानी जाती थी। दूसरी डाली धरती की प्रतीक थी। इनका समन्वय करती थी तीसरी डाली जो मनुष्य का प्रतीक होती थी। मनुष्य धरा और स्वर्ग के बीच की कड़ी जो माना जाता है!

पर विदेशियों के आगमन के बाद ये सिद्धांत खत्म हो गए। आजकल सब ओर से देखने पर फूल सुन्दर दिखे, इसकी फैशन है। पहले के गुलदस्ते में ही फूल सजा "लेंड-स्केप" तैयार करते हैं।

यदि अध्ययन किया जाए तो यह मनोरंजक विषय है। सभ्यता के पिछले युगों में फूल कुछ विशेष प्रकार से जमाए जाते थे। समाज की उथल पुथल और व्यक्ति की मनोवृत्ति का गुलदस्ते पर अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। सभ्यता की प्राथमिक अवस्था में लोग गहरे रंग के फूल पसन्द करते थे और विकास के युगों में हलके रंग चाहने लगे हैं।

पर अब वह जमाना गया।

फूल की पुड़ी भगवान को चढ़ जाती है और हार सब नेता और वक्ता पहन कर उतार देते हैं। आदमी को देखने के लिए केवल यह नोटिस बचता है—"फल फूलों को तोड़ने की सख्त मुमानियत है।"

इन्दौर के स्वर

जब 'नई दुनिया जागरण...डेली पेपर !' की आवाजें सुबह को चीरती हुई गुजरती हैं, और शहर के एक ओर से मील की सीटियाँ गूंजने लग जाती हैं :

सारा शहर सो कर उठ जाता है। दूध वालों की कोठियाँ खड़खड़ाती हैं; 'दूध दूध' की आवाजें आती हैं और आधी नींद डूबे हुए गले के पास खुजलाते सुन्दर चेहरे दरवाजों से बाहर गर्दन और बर्तन निकाल कहते हैं–'पाव भर।'

"छः नम्बर दो चाय दो ग्लास पानी एक नम्बर तीन पोहे साढ़े पाँच आने लो चलो टेबल साफ करो !..." और यह आवाज लगातार दिन भर आती रहती है।

धीरे धीरे धूप चढ़ेगी। 'राजबाड़ा, छावनी, होल्करकालेज... चलो उतरो, श्रीराम प्याऊ..एक आना दीजिए साब," शहर की नसों से नीले कीड़े घंटियाँ बजाते, हार्न गुंजाते गुजरने लग जाते हैं।

तभी सारे स्कूलों की घंटियाँ एक साथ बजती हैं। जी. एल. नीमा.. यस सर, राहुल बारपुते...यस सर..., चिंचालकर...यस सर।

और फिर बुलियन एक्सचेंज व सराफा बाजार की आवाजें आती रहती हैं। तीन खाए दो बेचे व जाने क्या क्या !

दोपहर की चुप्पी में...हाजिर है, हाजिर है कहते हुए बरामदे में चपरासी घूमते हैं। स्टेशन के पास में कोई बोलता है, आ जाओ एक सवारी महू महू !

फिल्म फेयर, धर्मयुग, माया, मनोहर कहानियाँ, नवनीत हिन्दी डायजेस्ट...बाऊजी ?

पालिश कर दूं बाऊजी...एक आने में चमका दूंगा...अच्छा पालिश बाऊजी !

दोपहर चमकती रहती है।

'गोली...मीठी गोली' सभी लड़के बोलते हैं ।

शाम के पहले शहर की सड़कों पर सुभाष चौक वाली सभा का निमंत्रण देता हुआ ताँगा घूमने लगता है ।

होटल के रेडियो रिकार्ड गाने लगते हैं । तोपखाने से कारों की आवाजें उठती है । कार, ताँगे और सायकलें, घंटियाँ और हॉर्न सड़क को होशियार करते हैं ।

'उसने कहा था' में अमृतसर के बंबूकार्ट वालों की बोली का मरहम लगाने को गुलेरीजी ने कहा था; इन्दौर में कारें और सायकलें भी मीठी छुरी की तरह महीन मार करती हैं ।

बालोदय समाज की किलकारियाँ चुप हो जाती हैं ।

हलका अँधेरा सड़कों पर आ जाता है । अंडे वाला 'वेणी-वेणी' बोलता निकल जाता है । यशवन्त सिनेमा के दरवाजे पर बैठा कोई कहता है--'छे आने छे आने छे आने ।'

और अलका के पास में : 'बाबूजी सायकल रख दूं । टिकिट न मिले वापिस हो जाएगी ।' प्रकाश के सामने मूंगफली वालों की आवाजें लाइन वालों को परेशान करती हैं ।

सिनेमा की रिकार्डें बजती रहती हैं । गीत, ठुमका और डायलॉग आँखों के सामने आकर कानों में मिठास घोलते हैं ।

'चालू खेल किताब...एक आना' की सलामियां सुनाई देती है और शहर की अँधेरी सड़कों पर सिनेमा से लौटे पैर खट खट करते हैं ।

पर अभी सुभाष चौक का आखिरी भाषण शेष रह जाता है ।

पर अभी किसी कवि सम्मेलन में कुछ कवियों का दूसरी बार आना बकाया रहता है ।

पर अभी सत्यनारायण की कथा का अन्तिम अध्याय शेष बचता है।

और उसके बाद सारे शहर में काली खामोशी बाकी बचती है । सिर्फ खण्डवा गाड़ी के ताँगे नींद खोलने को गुजरते रहते हैं ।

दूर दूर से कुत्ते अपना मौखिक शिष्टाचार निभाया करते हैं ।

पुलिस वाला पूछता है--देख रहा हूँ, आप लोग आध घंटे से खड़े हैं । आवारा गर्दी है । कोतवाली चलिए ।

उसके बाद सिर्फ पुलिस की सीटियाँ शेष रहती हैं, क्योंकि प्रेस की धड़कनें बन्द हो जाती हैं । मगर मीलों की मशीनें चुपचाप रात में भी तीखे स्वरों में बोलती रहती हैं ।

इस तरह इन्दौर के स्वर बने रहते हैं ।

जब तक कि वंदना के इन स्वरों में एक स्वर अपना मिलाने हॉकर लोग नहीं आते !



डबलसवारी दर्शन

रास्ते में आते जाते कभी किसी को डबल चलाते देखता हूँ तो हृदय प्रसन्न हो जाता है। आत्मा गद्‌गद् हो जाती है। मानवी प्रेम के इस छोटे से प्रतीक को देख श्रद्धा से सिर झुका लेने को जी चाहता है।

सुनता हूँ कि पुलिस वालों के सामने डबल वालों को सिंगल हो जाना पड़ता है। कानून का सम्मान आवश्यक होता है। प्रेम और पुलिस इन दो शब्दों में कहाँ मेल बैठ सकता है!

पर भारत के आदर्श भावी समाज के मूल में जो दर्शन है, हम यदि उस पर गंभीरतापूर्वक विचार करें तो हम समझ जाएँगे कि वास्तव में कानून कितनी बड़ी गलतफहमी का शिकार हो रहा है।

आज हम यह नहीं चाहते कि जिसके पास दो कारें हों उसकी एक कार छीन कर उसे दे दें, जिसे कार की अत्यन्त आवश्यकता है। नहीं, इसमें हिंसा होगी, जो हमारा लक्ष्य नहीं। यदि हम कार लेंगे तो मुआवजा देकर लेंगे। या चाहें तो स्वयं मालिक हृदय परिवर्तन के कारण कार दे दे। आदर्श यही है कि स्वयं मालिक रहकर भी वह अपनी कार को समाज की में लगाए।

ठीक इसी तरह सायकल की बात है। जिसके पास दो सायकलें हैं उससे एक सायकल छीन कर दूसरे को देना गलती है। समाज का आदर्श यह होना चाहिए कि हमारे पास यदि एक गाय है तो अकेले ही दुह कर नहीं पियें, दूसरों को भी दूध दें।

यदि हमारे पास सायकल है और हम जा रहे हैं, तो मानवता इसमें है कि यदि हमारा पड़ोसी या मित्र कोई पैर पैर जा रहा हो तो उसे भी स्थान दें, अपने साथ डबल ले चलें।

जब आपके पैरों में शक्ति है तथा आपकी सायकल सक्षम है तो दूसरों के हित में श्रमदान करना आवश्यक है। यह निस्वार्थ भावना के द्वारा ही संभव है। इसमें आपको थोड़ा कष्ट होगा, पर निश्चय ही उस व्यक्ति

तथा समाज को लाभ पहुँचेगा ।

क्योंकि दूसरे व्यक्ति की गति बढ़ने से समाज के कार्य की गति ही थोड़ी बढ़ी है । और आपका श्रम, परहित में सेवा से, उस बढ़ती हुई गति का परोक्ष रूप से कारण है ।

अतः डबल सवारी के पीछे जो मूल भावना है–वही वह कुंजी भी है, वह दार्शनिक तत्व भी है जिसे विकसित रूप में हम अपनी मूलभूत समस्याओं को निपटाने के लिए आवश्यक मानते हैं । कानून की बात छोड़िए । सेवा में भावना होती है, वह कानून की ओर नहीं देखती । शराब की दुकान पर झंडा लेकर सत्याग्रह करने का कोई कानून नहीं था, पर हमारी सेवा भावना उसके पक्ष में थी । ठीक उसी प्रकार यदि हम दूसरों का हित करना चाहते हैं, अपनी सायकल से उसमें सहयोग दे रहे हैं, तो निश्चय ही कानून की जंजीरें हमारी निस्वार्थ भावना को नहीं बाँध सकतीं ।

और यदि माना जाए कि डबल सवारी से टक्कर का भय रहता है, तो यह गलत है । डबल सवारी से गति क्षीण होती है, टक्कर तो तेज जाने से होती है । और यदि दोनों दुर्घटना ग्रस्त हों तो "सुख बढ़ जाता, दुख घट जाता, जब वह है बँट जाता । जै जै भारत माता ।" (मैथिलीशरण गुप्त)

शायद कानून पूंजी की सुरक्षा के लिए हैं । यह भय था कि कहीं दो बैठने के कारण सायकल की बिक्री न कम हो जाए । अंग्रेज बहादुरों ने अपनी विदेशी कम्पनियों की रक्षा की, पर स्वाधीन हृदय भारतीय के सम्मुख कृष्ण का आदर्श था जो युद्ध के समय भी सारथी बनने को तैयार थे। अतः डबल सवारी चलती रही ।

और वह चलती रहेगी, जब तक समाज उस पूर्ण अवस्था को प्राप्त न कर ले, जब प्रत्येक के पास सायकल होगी । तब तक हमें परहित के लिए संकीर्णता छोड़नी होगी । सेवा करनी होगी । अपनी धरती, अपनी संपत्ति, अपनी सायकल की रक्षा का मोह छोड़ना होगा ।

कालिदास

मोटे रूप से साहित्य दो भागों में बाँटा जाता है। (१) पढ़ने योग्य साहित्य। (२) प्रशंसा करने योग्य साहित्य।

पढ़ने योग्य साहित्य में लैला मजनू, गुल सनोवर, तोता मैना, चन्द्रकांता संतति, भूतनाथ, सेक्स्टन ब्लेक, होम्स, गोहन डाकू सिरीज, कुशवाह कांत आदि हैं।

और प्रशंसा करने योग्य साहित्य में मेघदूत, कुमार संभव, कादम्बरी, किरातार्जुनीयम्, नैषधीयचरित, बुद्धचरित, रावण वध, हरविजय, कला विलास, विक्रमांकदेवचरित, राजतरंगिणी, बालजेक, सॉमरसेट मॉम, वार एण्ड पीस, शृंगार शतक, कामायिनी, दीपशिखा तथा राहुलजी का दार्जिलिंग-परिचय आदि पुस्तकें आती हैं।

कुछ साहित्य पढ़ने योग्य होता है, पर सभ्यता की मजबूरी और विद्वान कहलाने की अभिलाषा हमें उसकी तारीफ नहीं करने देती। और जिसकी हम एक स्वर से तारीफ करते हैं, उसके पढ़ने की न आवश्यकता है न प्रेरणा ही उठती है।

कालिदास की प्रशंसा की जाती है कि भाई उपमा तो कालिदास और शेष सभी घास हैं। कौन रघुवंश के उन्नीस और कुमारसम्भव के अठारह सर्ग पढ़े। दिलीप की परीक्षा, इंदुमति का विलाप, शिव पार्वती संवाद, कार्तिकेय का जन्म और कामदेव के भस्म होने से हमें कब काम पड़ता है!

जो कालिदास के जानने वाले हैं, वे उसके प्रचार को इतने उत्सुक नहीं, जितने अनुसंधान को। मेघदूत की टाँग पकड़, कालिदास उज्जैन में जन्मा, मंदसौर में जन्मा, काश्मीर में जन्मा या अंडमान निकोबार में जन्मा, की बहस जरूरी समझी जाती है।

फिर खोज कर भी पता यही लगता है कि कुछ निश्चित नहीं।

कालिदास बहुत बड़ा कवि था, बाप रे बाप, कैसी प्रतिभा, कैसा चमत्कार, कैसी अलौकिकता, सजीव वर्णन, स्वाभाविक प्रसंग, मधुर

शैली, भाव भाषा समन्वय !

इसकी तारीफ हमसे क्यों पूछते हो, पश्चिम से पूछो। वे बताएँगे। १७८९ में जोन्स ने शकुन्तला का अंग्रेजी अनुवाद किया था। फिर जर्मन में हुआ और गेटे तो पढ़ कर मग्न हो गये। क्या बात है अभिज्ञान शाकुंतल की।

शांताराम के सद्प्रयत्नों के बाद तो पढ़ने की रही सही जरूरत भी नहीं रही।

रूस में कालिदास का बड़ा प्रचार है। मेघदूत की बानगी लीजिए-
"इज्ञ द्रझबी, इली, इज झालोस्ती को मून्ये नेस्चास्त नोम् व राजलगुये झेर्त्वे रोका। इज पालेनिब फस्यो, श्रो दुग श्रो फस्योम प्रोशु या ईस्कोन्नो स्कोम्नी।"

अर्थात हे मेघ! मेरे ऊपर मित्र भाव से अथवा विरही पर दया भाव से इस प्रार्थना को जो आपके अनुरूप नहीं है, मेरी भार्या के प्रति पहुँचा दें तथा उसका उत्तर मेरे पास भेज कर आप कहीं इष्ट देश में विचरण करें।

है कोई साहित्य का लाल जो ऐसा नाम पाए? कालिदास सा न कोई हुआ है, न होगा।

फिर भी साहब, कालिदास कालिदास है। दुख हो या सुख, वे अपना भावरस उस अनासक्त कृषीवल की भांति खींच लेते थे, जो निर्दलित इक्षुदण्ड से रस निकाल लेता है।

कुछ जो अनुसंधान में लगे हैं, वे कालिदास जयन्ती पर सारे श्लोक बोल देते हैं, जितने याद हैं। उसी समय प्रचार होता है कालिदास का। यों रेडियो के लिए उदयशंकर भट्ट ने रूपक भी लिखे हैं। प्रायः विद्वानों के लेखों में उनका जिक्र आता है।

उम्मीद है इस मिट्टी से कालिदास फिर जन्मेगा।

अभी आप पेड़ पर बैठ अपनी डाली काटो। योग्य वर की खोज करते हुए राजकुमारी के ब्राह्मण आते होंगे।



श्रीशासन

श्रीशासन शब्द मुँह से बोलते ही हमें टाँगें ऊपर और सर नीचे का ख्याल आ जाता है।

प्राय: हम लोग श्रीशासन किया करते हैं ताकि शरीर में खून का दौरा बराबर ठीक रहे।

शब्द पढ़ कर आपको आश्चर्य नहीं होना चाहिए, क्योंकि प्राय: श्री हज़ूर जैसे शब्द आपने पढ़े होंगे। हर सम्माननीय पद, व्यक्ति व संस्था के आगे श्री लगा दिया जाता है।

तो मैं जब श्रीशासन शब्द का उपयोग या प्रयोग करता हूँ तो मुझे नाम के साधारण श्रीयुक्त अर्थ के साथ ही नीचे सर व ऊपर टाँगों का ख्याल आ जाता है।

उसके साथ मैं जो यह शब्द प्रयोग करता हूँ तो स्थिति उपयुक्त लगती है। जहाँ सिर नीचे और टाँगें ऊपर हों याने कारोबार उलटा हो उसे श्री शासन कहते हैं।

श्रीशासन का आधार मस्तिष्क है। श्रीशासन का स्थायित्व उसी समय तक रहेगा जब तक कि उसके मूल में मस्तिष्क हो। सारा भार उसी पर रहता है। यदि वह भार सम्हालने के योग्य न हो तो श्रीशासन समाप्त हो जाता है।

श्रीशासन ज्यादा देर नहीं रहता। जितनी देर उसका आधार बने मस्तिष्क में शक्ति होगी, श्रीशासन उतनी देर रहता है।

श्रीशासन में मुँह से अधिक बातचीत नहीं की जा सकती। प्रश्न करने पर उत्तर नहीं मिलते। प्राय: लोगों को शिकायत रहती है कि हमने श्रीशासन करने वाले से कितनी बार पूछा परन्तु कोई उत्तर नहीं मिला। 'अप्लाय अप्लाय, नो रिप्लाय'—श्रीशासन का गुण है।

श्रीशासन में हर चीज, हर समस्या उलटी नजर आती है। जो श्रीशासन करता है वह कभी स्थिति का ठीक अध्ययन नहीं कर सकता। किसी

समस्या को साधारण लोग जिस नजर से देखते हैं, उससे उलटी तरह ही शीर्षासन करनेवाले को दिखता है।

शीर्षासन सब नहीं करते। कुछ लोग शीर्षासन करते हैं।

कुछ लोग शीर्षासन नापसन्द करते हैं।

कुछ लोग शीर्षासन करना चाहते हैं, पर शक्ति या स्थिति न होने के कारण नहीं कर पाते।

शीर्षासन करनेवालों का कहना है कि शीर्षासन करना कोई मजाक या हँसी खेल नहीं है।

शीर्षासन करनेवाले को न करनेवाले की उपेक्षा ज्यादा फायदे हैं। एक बार जिसने शीर्षासन किया उसकी स्थिति कुछ समय तक बड़ी अच्छी रहती है।

शीर्षासन के अपने नियम हैं, अपने तरीके हैं। यदि उन पर न चलें तो शीर्षासन हो नहीं सकता।

शीर्षासन में हाथ बँधे रहते हैं। आपने प्रायः शीर्षासन करने वाले के मुँह से सुना होगा कि मैं मजबूर हूँ, मैं कुछ नहीं कर सकता।

फिर भी शीर्षासन करने वालों को सभी लोग असम्मान की निगाह से नहीं देखते। वे श्री शासन की मजबूरी समझते हैं।

शीर्षासन जो नीचे हैं, उन्हें ऊपर उठाता है। हमारे शास्त्रों में ब्राह्मण को सिर और शूद्र को पैर माना गया है। शीर्षासन में पैर धीरे-धीरे ऊपर उठते हैं। बिना पैर उठाने का प्रयत्न किए श्री शासन हो नहीं सकता।

एक बात है; यों तो प्रत्येक स्थान पर शीर्षासन कर सकते हैं, पर अक्लमंदी यही है कि शीर्षासन एक जगह रह कर किया जाए। सब के शीर्षासन का अपना स्थान रहता है।

आप अपनी शीर्षासन की अकड़ सब जगह दिखाएँगे तो लोग आपको मूर्ख मानेंगे।

आप यह जानते हैं, हमारे देश में नेहरूजी शीर्षासन करते हैं।



पत्थर के आँसू

आस्कर वाइल्ड की कहानी 'हेप्पी प्रिंस' में जैसा आश्चर्य मिश्र जाने वाली गौरया को पत्थर की मूरत से आँसू देख कर हुआ था, वैसा आश्चर्य लखनऊ के लोगों को हनुमान की मूरत से आँसू गिरते देख कर हुआ।

उस दिन पुजारी ने आश्चर्य से देखा कि हनुमानजी सिसक रहे हैं। शक्ल भी रोनी-सी थी या नहीं, पता नहीं। पर आँसू गिरे जा रहे हैं।

सारे देवताओं की मूरत में हलकी-सी मुस्कराहट रहती है। केवल हनुमान की मूरत ऐसी है जहाँ कहीं मुस्कराहट नहीं। गम्भीर जमादारी चेहरा।

सो 'रोते क्यों हो, शकल ही ऐसी है' वाली बात हनुमानजी के विषय में सोची जा सकती है। पर कही नहीं जा सकती।

आँसुओं की वजह और मतलब यों ही समझ में नहीं आता। टेनीसन कहता है टीयर्स आयडल टीयर्स आय नो नॉट व्हाट दे मीन।

आँसू हृदय के सेफ्टीवॉल्व माने जाते हैं। 'दिल भर आया, आँख भर आई और आँसू बहा काटूँ दिनरतियाँ' जैसी चीज हो जाती है।

पर मैं मगर के आँसू, झूठे आँसू, प्याज के आँसू और पत्थर के आँसू की बात कर रहा हूँ। क्योंकि चाहे एच. बीचर कहते हों कि आँसू वो टेलिस्कोप हैं जिनके द्वारा स्वर्ग नजर आता है, पर यह बात हमेशा नहीं होती।

फिर हनुमानजी क्यों रोये ? पत्थर में आँसू गिरने का कोई वैज्ञानिक कारण होगा। पर मेरा भावनाप्रधान मन इसे स्वीकार नहीं करता।

आज अगर इस तरह के आँसू 'वरजिन मेरी' की आँखों से गिरते तो कैथलिक पादरी सैकड़ों मतलब निकालते और हजारों भविष्यवाणियाँ होतीं।

लेकिन हनुमानजी पर जो हजारों मन चढ़ावा चढ़ गया तो पुजारी ने मतलब जानना और आँसू न बहाने की प्रार्थना करना बेकार समझा। वहाँ आँसू वरदान बन गए।

असल में आँसू हमारे लिए इतनी बड़ी समस्या नहीं है, जितनी बड़ी समस्या राजकुमारी अमृतकौर के लिए है, स्वास्थ्य विभाग के लिए है।

आज की स्वास्थ्य-दशा देखकर प्राचीन-युग का पहलवान आँसू बहाता है, यह कैसा सर्टिफिकेट !

हनुमानजी शायद हमारी शारीरिक हालत देख कर रोये हैं। राष्ट्र स्वास्थ्य की दृष्टि से पूरा महात्मा गाँधी हो रहा है। पहलवान है, मगर नुमायशी पहलवान है। हमीदा बानू चुनौती देकर खड़ी है, जो कोई कुश्ती में हरा देगा उससे शादी कर लेगी। पर कोई उत्तर नहीं।

सोचिए, हर ईमानदार बजरंगबली इस वक्त यदि रोयेगा नहीं तो क्या करेगा।

पर भाई, हनुमानजी लखनऊ के हैं। वातावरण का प्रभाव पड़े बिना रहना नहीं है। वह लखनऊ जहाँ पर कि कभी 'उल्लू के पट्ठे रगे गुल से बुलबुल के पर बाँधते थे।' जहाँ वाजिदअली द्वारा बुलाई गई बहारें थीं। उस लखनऊ के नवाबी हनुमान के रोने का क्या कारण होगा?

उस नजाकत के युग में जो नहीं रोए, वो अब रो रहे हैं।

मैं एकाएक हैरान हो गया यह सोचकर कि क्या हनुमान के आसू का वैसा ही मतलब है जो कि लखनऊ के वृद्धों का रहता है, जिन्हें अब कनकौए कम नजर आते हैं, बटेर कम लड़ाई जाती है, कबूतर कम उड़ते हैं, का दुख रहता है।

ऐसी पीड़ा एक कवि को लखनऊ देख कर कभी हुई थी : 'लेते थे चुम्बन युगल जहाँ, लेते हैं चले सुराज हाय। कब्रों पर आज आशिकों के, फिरते एम. एल. ए. आज हाय।

सो हनुमानजी के रोने का कारण समझ नहीं आता। पंत की सरकार ने कोई स्पष्टीकरण नहीं किया।

शायद कोई साधारण सी बात हो। यद्यपि बात बात पर रोने की आदत जो बच्चों और कहीं कहीं बीबियों में होती है, वह हनुमानजी में नहीं है।

शायद मलमल के कुर्तेवाला कोई राम का मन बिरह की पीड़ा सह रहा होगा। उसे देख बजरंग रोये।

क्योंकि आज का लखनऊ विचित्र परम्पराओं का इमामबाड़ा है, भूल भुलैया है।

अन्दाज़े बयाँ और...

उस दिन जब पड़ोसन ने राम जाने क्या समझ कर ग्रामोफोन पर तवा चढ़ाया और पिन चुभाई (उर्दू) तो एक गजल या ऐसी ही कुछ बज उठी। सारा रेकार्ड मैं ध्यान से सुनता रहा। अब बेमतलब कोई पास जोर से चिल्लाए तो उसकी बात सुनने को ध्यान से सुनना ही कह सकते हैं।

उसमें कहा गया था कि यों तो कई हैं मगर गालिब का अंदाजे बयां और है।

रिकॉर्ड तो चुप हो गई, पर यह 'अंदाजे बयाँ और' मेरे दिमाग में अटक गया।

अंदाजे बयाँ और, याने जो सब कहते हैं वह नहीं, अभिव्यक्ति की मौलिकता, अपनी ढपली द्वारा निकला अपना राग; डेढ़ चावलों का अलग पकना आदि हैं।

यों तो सभी का अंदाजे बयाँ अलग अलग है। भला आदमी जैसी बातचीत करता है वैसी बातचीत एक पुलिस वाला नहीं करता। उसके लबो के स्वरों में जमादारी तत्व, पुडक अभिव्यक्ति तथा झिड़क अभिव्यंजना अलग ही है। शायद ऐसी अभिव्यक्ति के पीछे उसकी अनुभूति भी अलग है।

खैर छोड़ो, मैं पुलिस की ज्यादा बात कर वातावरण गम्भीर करना नहीं चाहता। पर यह अंदाजे बयाँ पर जोर देना आवश्यक है।

इस संसार में बातें सब वही हैं। रोज सूरज उगता है। रोज हम देर से उठते हैं। वही बसें, ताँगे और नगरसेविका के एहसान से दबी सड़कें, वही आदमी, बच्चे और जवान बच्चियाँ, सुन्दर बहनें, आकर्षक माताएँ। डमरूनुमा बाप, क्लर्क, 'मुम्फली' वाले मास्टर व फड़तूस लोफर व लेखक। सब बातें वही हैं।

हर अखबार एक ही बात बोलता है। नेहरू का समाजवाद, ढेबर,

विनाबा आदि व ही खबर सब जगह ।

पर फिर भी इस अन्दाजे बया का ही दम है कि जिधर देखा उधर ही आकर्षण है ।

सब नेता बोलते हैं । सिखाए मिट्ठू सी बात पर अपने मन की मैना । पर अपना नेहरू, क्या बात है । जी अदाज बया और है ।

हर लड़की की जबान मीठी होती है—मगर वह जिसका ध्यान आपका रहता है, जिसकी खिड़की बिना ताके, जिसका घर बिना झाके, जिसके रास्ते बिना खड़े आपका काम नही चलता उसकी बात आपको विशेष अच्छी लगती है । क्यो ? अदाजे बया और है ।

स्कूल में जो किताबे चलती है व एक सरीखी होती है । मास्टर वही बोलता है । पर सुननेवालो मे सभी तो उल्लू नही होते, अत ज्ञान की डिजाइनें अलग अलग हो जाती है और जब भारत के भविष्य के अनुसार सारे छात्र प्रौढो मे बदलते है तो सबका अदाजे बया और हो जाता है ।

यात्राओ के मौके सभी को आते है । रेल का गेट कब खाली रहता है । यात्रा वर्णन भी कई करते है, पर प्रसिद्ध यात्री एकाध ही बनता है, क्योंकि अदाजे बया और होता है ।

सास्कृतिक, सामाजिक, साहित्यिक, अखबारी, कारबारी सभी क्षेत्रो मे वही समस्या है, वही हल है और वही बाते है—मगर अच्छी दलाली, अच्छी भटैती हरेक नही करता, उसे करने वाला मन और मानस हरने वाला एक सुखनवर अलग ही होता है ।

फिर शिक्षा का, किताबो का, भाषण का सब का एक ही उद्देश्य है कि आप अपने अदाजे बया का प्रदर्शन करते रहे । बस यदि आपने अपनी शैली बना ली तो जीवन सफल है ।

लोग गालिब के लिए जैसा कहते थे कि यो तो सुखनवर है बहुत से पर गालिब का अदाजे बयाँ और है—वैसे आपके नाम पर भी रोएँगे ।

इसका आनन्द आगरे मे आया था । पागलखाने मे देखा कि हर व्यक्ति का लहजा, मौलिक अभिव्यक्ति, यानें अदाज बयाँ अलग ही था ।



चरथ भिक्खवे चारिक

आजकल अपीलें होती है कि अरे घरघुसो जरा बाहर आओ। ये रेल के डब्बे मसाले भरने के नहीं हैं, आपके लिए हैं।

किराये का बेल्ट ढीला किया जाता है, कन्सेशन के पाल बाँध कर अपनी नाव छोड़ दो। सो डाक्यूमेंट्री दिखाई जाती है। चिकनी तस्वीरें छपती हैं। पर बहुत कम अपना कर्मक्षेत्र कुआ छोड़ते है, जैसे चुनाव में खड़े हों, कहीं जा नहीं सकते।

प्रश्न है 'जाएँ तो जाएँ कहाँ ?' पहाड़ जाइए। जरा ऊँचे चढ़िए। उडंची लीजिए। पतंग बनिए। 'सबै भूमि गोपाल की या में अटक कहाँ। जा के मन में अटक है सो ही अटक रहा।'

आर्यों की सन्तानों ने एक बात सीखी है कि खूँटा मत छोड़ो। नही तो आर्य जैसे अपनी जन्मभूमि छोड़ वापिस नहीं पहुँचे वैसे हम भी नहीं पहुँचेंगे।

सो कोलम्बस अमेरिका चला गया। वास्को-डी-गामा भारत आ गया। और तो और एशिया के पास ही आस्ट्रेलिया तक केप्टन कुक आ गया। मगर बन्दे अपने तीर्थों से आगे नहीं बढ़े।

सूर जैसे अन्धों ने सीख दी कि परम गंग को छाँड़ि पियासो दुरमति कूप खनावे। मेरो मन अनत कहाँ सुख पावे।

पर शेष नयनसुखों को आनन्द तो भ्रमण में आता था सो बुद्ध घूमे, महावीर घूमे, शंकर घूमे, चैतन्य घूमे, नानक घूमे—परिक्रमा की और पवित्र हो गए, ब्रह्मपुत्र हो गए, कार्तिकेय हो गए। माँ बाप के आसपास घूम सूँड नहीं हिलाते रहे गणेश जैसे।

एक साधु ने कड़क कर कहा:—सैर कर दुनिया की गाफिल जिन्दगानी फिर कहाँ ? जिन्दगानी गर रही तो नौजवानी फिर कहाँ।

लोग बाहर आए और करतल भिक्षा, तरुतल वास करते आगे बढ़े। लंका, बर्मा, श्याम, चम्पा, फिलिपाईन तक झण्डे गाड़ आए।

थक कर घर लौटे। गाँव के बच्चों को दूर देश की परियों की बात कही। लड़कों का मन मचला तो बारह साल की उम्र में परियाँ खोजने भागे और कहीं जाकर प्रेम किया। लौट कर आए तो वह साथ में।

यह है घूमने के मजे। जरूरत नहीं कि साथ कोई रहे। हमेशा एक से दो भले नहीं होते। रवीन्द्र को मानो तो एकला चालो रे ठीक बात है। मन माने तो मेला, नहीं तो सब में भला अकेला।

सरकार दो बातें कहती है। घर रहो तो देश को ऋण दो। नहीं तो सफर को निकलो। देर करने की जरूरत नहीं, काल कर सो आज कर। जब मन पड़े चल दो। याने यदहरेव विरजेत तदहरेव प्रव्रजेत।

असली घूमने वाले साथी रास्ते में पाते हैं। यों बेहतर है कि 'एको चरे खग्ग विसान कप्पो–' याने गेंडे के सींग की तरह अकेले विचरे।

इसके खिलाफ जन्मभूमि मम परम सुहावनि के गायक कीट पतंगों ने खूब प्रचार किया है।

छोटे बच्चों को कहा कि देखो राजा गया दिल्ली, वहाँ से लाया सात कटोरी, एक कटोरी फूटी और राजा की टाँग टूटी। बच्चों ने सोचा दिल्ली जाकर कौन टाँग तुड़वाए। नेताओं ने नारे लगाए ' दिल्ली चलो–', कोई नहीं हिला।

कुछ लोगों ने घूमना लिमिटेड करवाया। तालाब देखने वालों को कहा–ताल तो भोपाल ताल बाकी सब तलैया। गढ़ देखने वालों को कहा:–गढ़ तो चित्तौड़गढ़ बाकी सब गढ़ैया। ताकि लोग ज्यादा न घूमें।

पर मस्तिष्क वाले भोपाल ताल से मानसरोवर गए। घूमने से अकल आती है। नेताओं को देखो। कितना ज्ञान मिला है सब दौरे में।

कम से कम यह गुण जनता में आना चाहिए। तो घूमो, नई पगडंडियाँ बनाओ। आगे सड़क बनेगी।

हिन्दू धर्म कहता है–राम जपतु चलु, राम जपतु चलु भाई रे। बुद्ध धर्म कहता है–चरथ भिक्खवे चारिक। याने भिक्षुओं घुमक्कड़ी करो।



प्रचार के भी स्तर होते है। दार्शनिक विचार के स्तर का प्रचार होता है, जिसमें इतिहास की गति और दर्शन के विभिन्न पक्षों पर बहस करने के बाद व्यक्ति को अपने पक्ष में फोड़ा जाता है।

फिर नेताओं के स्तर की बातचीत होती है जिसमें कौनसे दल की ओर से खड़े होने पर चुनाव जीता जा सकता है, कौन से गुट में घुसने से मंत्री पद अवश्य दिया जाएगा --इसका खुसपुस प्रचार होता है।

फिर जनता का स्तर आया ।

इसमें पैसे वालों में प्रचार किया जाता है कि भाव बढ़ा देंगे, इनकम टैक्स नहीं लेंगे, समाजवाद की बात नही करेंगे, व्होट देना। अपने घर के और नौकर चाकर के ।

मध्यमवर्ग में प्रचार होता है अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को समझो। शिक्षा के कृषि के क्षेत्र में आज का मनुष्य क्या चाहता है और क्या हुआ है इसे पहचानो। भ्रष्टाचार कैसा फैला जा रहा है। मध्यमवर्ग की हालत क्या है। विकास की संभावना नहीं है। नीति गलत है मत भूलो। यही पेटी आपकी पेटी है । नमस्ते। भाभी से भी कह देना वोट देने आए। तबियत कैसी है। आप महिलाओं में काम नहीं करती। चाय नही लूँगा। जरा यह जनतन्त्र की सेवा हो जाए। फिर खाना खाने आएँगे। चलूँ। मत भूलना, जनता की पेटी। नमस्ते नमस्ते ।

उसके बाद आम जनता के लिए प्रचार होता है--आजादी हुए आज कितने साल हो चुके मगर जनता उसी प्रकार से है। रामराज्य के वायदे हवा हो गए। इनकी काली करतूतों का पर्दा फाश हो गया है।

'भाइयों सरे आम गो माता को काटा जा रहा है। आपने देखा ही होगा। हिन्दू संस्कृति पर यह कुठाराघात हो रहा है।"

नेहरू के हाथ मजबूत बनाने के लिए बैल जोड़ी को ही वोट दीजिए। सामाजिक और पंच वर्षीय योजना के लिए, मत भूलो बैल जोड़ी ।

इस प्रकार के अनेक भोगी अपना कर्तव्य अदा करते हुए निकल जाते हैं।

फिर और भी हलका स्तर आता है जिसमें कच्ची बुनियाद के सत्य नहीं, बेबुनियाद की झूठ हुआ करती है।

'यह जो घोड़ा है, यह शिन्दे सरकार का माधवराव महाराजा का घोड़ा है। अगर इनकी पेटी में वोट डाल दो तो इसी घोड़े पर आलीजाह तशरीफ लाएँगे और फिर सब जगह वही पुरानी चैन अमन हो जाएगी।'

'और भैया हनुमानजी के मंदिर में मूरत के आँसू बह रहे है कि यह कांग्रेस राज्य में पहलवानों को तकलीफ हो रही है, खाने को बादाम नहीं मिल रहा है और रात को सपने में पुजारी को कहा था कि मर जाना पर कांग्रेस को, कम्युनिस्ट, समाजवादियों को वोट मत देना। तुझे सीता मैया की सौगंध।'

'यह जो आपके सामने बढ़ बढ़ कर समाज की बात कर रहा था और देश भक्ति का ढोंग कर रहा था, जानते हो इसका बाप कौन था और इसकी बहन के साथ क्या गुजरी थी? सुनिये।'

फिर कीचड़ उछालने का प्रजातंत्र वाला अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का मार्ग खुल जाता है और जम कर मैल बहने लगता है जुबान से।

इस तरह के तर्क सुनने को मिलते हैं:—

ये जो आज छाती ठोंक कर प्रचार करते हैं कि हमने अन्न का उत्पादन बढ़ा दिया है और ढेरों सा अन्न पैदा हुआ है तो हम पूछते हैं कि इसमें तुमने क्या किया। अजी जब सूखा पड़ता है तो भगवान के कोप से होता है। अगर अधिक अन्न उपजा तो भगवान की कृपा से उसमें इन लोगों ने क्या किया बताओ।'

और इस तर्क व प्रचार में प्रजातंत्र व मताधिकारी दोनों की ऐसी-तैसी हो गई।

पानी से जब बिजली बनाई जाती है तो जो पानी का कस है, तत्व है उसकी तो सरकार बिजली बना लेती है। फिर बिना ताकत का बिना बिजली का सपरेटे का पानी खेतों को दिया जाता है। बताओ उससे उपज हो सकती है? पानी का कस तो निकाल लेते हो और किसानों को उल्लू बनाते हो कि खेती होगी। यही है ना कांग्रेस राज?



सर्वहारा नृत्यकला

अभी परसों मैं एक बन्दर-बन्दरिया का नाच देख रहा था । मेरा अनुभव है कि जनता बन्दर की ओर नेता और अभिनेताओं की अपेक्षा ज्यादा आकर्षित हो जाती है ।

इसका क्या कारण है—समझ में नहीं आता । बन्दर को राम की ओर से आशीष मिला है, या यह भी कारण हो कि हमारे आपके सब के वंश-वृक्ष की फुनगी पर कोई बन्दर बैठा है । डारविन की बात आपको मंजूर होगी ।

मैं मदारी द्वारा प्रदर्शित इस नाच को इस कारण देख रहा था कि नृत्य की ओर मेरी अभिरुचि बचपन से रही है । छोटा था तब पड़ोसिन मुझे देखकर कहती 'नाच री मेरी मैना तुझे गेहूँ की रोटी देना, और मैं ठुमकने लग जाता ।

अब नाचता तो नहीं हूँ, पर नाच देखने का शौकीन हूँ । भारतीय नृत्य-कला पर कई लेख और पुस्तकें पढ़ी हैं, पर किसी विद्वान द्वारा यह मदारी-निर्देशित नृत्य की बात नहीं सुनी ।

मुझे लगता है कि वानर-वानरी नृत्य का प्रारम्भ हम राम की लंका विजय के समय से लगा सकते हैं । या अयोध्या में राम के साथ लौटने वाले कुछ वानरों को नाच कर पेट पालना पड़ा होगा ।

नृत्यकला दो भागों में बंटती है—एक राज्याश्रयी तथा दूसरी लोक-धर्मी । लोक-धर्मी में समस्त लोकनृत्य तथा वानर व रीछ-नृत्य आ सकते हैं ।

वानर-वानरी नृत्य का जनसमाज से अधिक संपर्क रहा, इस कारण ही आर्थिक-संघर्षों और मान्यताओं का इस पर प्रभाव पड़ा है ।

इतिहास के किन कालों में यह नृत्य किस दशा में रहा यह खोज करनी चाहिए । परन्तु ये दो पंक्तियाँ 'बन्दर-बन्दरिया चाबे पान, उड़ गई टोपी रह गए कान'—बताती हैं कि कभी इन नर्तकों को समस्त सुख सुविधाएँ प्राप्त

रही हैं ।

सुख बढ़ने पर पतन भी हुआ होगा क्योंकि कहावत है कि पहले तो बन्दर बावला और ऊपर से पी ली भंग। ऐयाशियों ने कला को दूसरा रूप दिया होगा ।

नृत्यकला सदैव लाल मुँह के बंदरों के हाथ रही है, इसका कारण यही है कि सदैव मे नर्तक व नर्तकी का रंग सुन्दर होना आवश्यक रहा है। दूसरे रंग के बन्दरों को इसी कारण कोई स्थान नहीं मिला ।

ब्रिटिश-राज में इन लाल मुह के बन्दरों की जितनी उन्नति की अपेक्षा थी, वह नहीं हो पाई ।

तब से यह नृत्य-कला ग्रामीण समाज तथा नगर के निम्न मध्यमवर्ग व प्रोलेतेरियत के मनोरंजन के काम आई ।

नृत्य-कला के रूपों को यदि ध्यान रखें तो वह कला भारत नाट्यम में मानी जा सकती है। नृत्य एक कथानक पर आश्रित है जिसमें एक ग्रामीण युवक (वानर) अच्छे वस्त्रों से सज कर विवाह को जाता है। विवाह कर लौटता है। व फिर गार्हस्थ्य जीवन की झाँकी दी है ।

इसे मणीपुरी भी मान सकते हैं चाहे मृदंग की जगह डमरू हो। पर ताल पर कम ध्यान दे मुद्राएँ ही ज्यादा है। घघरिया प्रायः मणीपुरी आकार की होती है ।

लोकनृत्यों का इस प्रकार से विश्लेषण अभी ठीक नहीं है ।

पर यह निश्चित है कि सामाजिक जीवन की झाँकी इनमें है। बंदरिया रतनचमेली भारतीय नारी का प्रतिनिधित्व करती है। शृंगार, रूठना और पति से असहयोग, अपरिचित युवक से बँध दूर चले जाना, सब कुछ नारी की ही आदर्श तस्वीर है।

उनकी गरीबी व मजबूरियाँ पीड़ित समाज की ही बात कहते हैं।

नर्तकी रतनचमेली भारत की समस्त नर्तकियों की बात करती है। मदारी उससे पूछता है-तू क्यों नाचती है ? वह पेट पर हाथ मारकर कहती है कि इसके लिए ।

कुक्कू और वैजयन्तीमाला भी क्यों नाचती है ? पेट के लिए। रात को घुँघरूओं की आवाज क्यों आती है ? पेट के लिए।

फिर इन कौमी नारा 'हुप' लगाने वाले मूक कलाकारों की युगों से आ रही साधना की उपेक्षा क्यों ?

[illegible] मार्ग

शास्त्रों की आवाज भौतिकवादी नक्कारे में तूती के समान है, मीठी पर अनसुनी। फिर भी वैवाहिक क्षेत्र में इसका पुरजोर असर अभी शेष है। अभी भी पत्नियों की खोज जाति के संकीर्ण घेरे में से ही की जाती है, अथाह नारी सागर में से नहीं। और पिता अपनी बेटी ब्याहता नहीं, दान देता है। कन्या दान!

शास्त्रों ने कहा है कि धन का दान, भूमि का दान आदि सब तो छोटे हैं, सबसे बड़ा दान तो कन्या दान है। हम भी मानते हैं कि गोधन, गजधन वाजिधन, और भी रतनधन खान परन्तु जब आवे पत्निधन तो वास्तव में सब धन धूरि समान।

यों तो दान की बछिया के दांत नहीं देखे जाते कि असली हैं या नकली, पर कन्या का दान लेने वाला सुपात्र न केवल दाँत, आँख, पर दिमाग भी देखता है, चार हितुओं को फोटू दिखाता है, बाप का डीटेल जानता है, अदेखा अन्दाज लगाता है और तब कहीं दान लेने की स्वीकृति देता है।

संविधान की यह भावना समझना कुँवारों और विवाहितों दोनों के लिए कठिन है कि पत्नि का सामाजिक दर्जा बराबर है, और बेटी के ब्याह को कन्यादान कहना गलत है।

पत्नि को खरीदा हुआ मत समझो, अन्याय है। पत्नि को दान में पाया मत समझो, अन्याय है। पत्नि को घर की मुर्गी मत समझो, जीती हुई लाटरी मत समझो, आसमान से भगवान की भेजी परी भी मत समझो, जमीन पर लावारिस चीज भी मत समझो।

याने पत्नि को कुछ मत समझो।

अब आल्हा-ऊदल-कालीन दर्शन भी कहाँ रहा कि 'जेहि की बिटिया सुन्दर देखें तेहि पै चमक धरैं हथियार।' अब यह मुश्किल है। हरण करने के बाद कोतवाली शरणम् गच्छामि के सिवाय उपाय नहीं है। या बालापन के हौंस को दबा रखो जब तक कि बालिग रूपा के बोल नहीं फूट पाएँ।

हरिश्चन्द्र का अनुभव है कि दान से दक्षिणा भारी पड़ती है । बेटी-दान के साथ जो दक्षिणा देनी पड़ती है, वह भी आर्थिक गंजापन लाती है । बरसों पहले चैतन्य भागवत के शिकायती छंद में यह व्यक्त हुआ था, 'धन नष्ट करे पुत्र कन्यार विभाय' पर किसी ने नही सुना ।

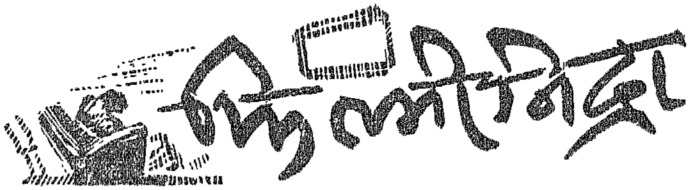
आर्थिक दृष्टि से दान और भेंट में कोई फर्क नहीं । फर्क है सिर्फ सम्मान-भावना का । यदि विवाह को दान के बजाय भेंट करार कर दिया जाए तो भी लड़की के चिर सम्मान और अहस्तान्तरणीयता की गैरन्टी तो हो ही जाती है ।

आज दान में पाई चीज को आप जिस रूप में चाहें उस रूप म इस्तेमाल कर सकते है । यों भी करेंगे, पर ऊपरी घोषणा हो जाएगी कि पहले बेटी दान में जाती थी और अब मुफ्त मे जाती है ।

आप यह तो मानते हैं कि दान की भावना बुरी नहीं होती । कम से कम मोल भाव, सौदेबाजी, मक्खन या कंजूसी की भावना से तो अच्छी ही होती है । भारत के लिये यह व्यापक दया भावना बनी रहना भी अनिवार्य है ।

पर सिर्फ भावना से ही काम नहीं चलता उसके लिए कुछ वस्तु भी तो चाहिए । हर घर में धन और जमीन की उपज तो होती नही । घर की खेती तो हमारे बेटे बेटी है । भावना बनी रहे तो बेटी भी दान के मार्ग जाएगी ।

पर किसी भी मार्ग से जाए हश्र तो वही होना है ।



फिल्मी निद्रा

आजकल जनता सितारों के लिए और सितारे जनता के लिए बड़ा प्रेम दिखा रहे हैं । जनता तो सदा से दिखाती है पर अब जनतन्त्र अर्थात् अमची सरकार का प्रेम उमड़ा है । दो बीघा जमीन, श्यामूची आई आदि पर राष्ट्रपति मोहित हो रहे हैं ।

उधर रूस में राजकपूर, विमलराय वाह-वाही लूट रहे हैं। सितारों के काफिले जहाँ से गुजरते हैं वहीं जवानी आ जाती है ।

पर नेहरूजी ने फतवा दिया जो बड़ा सच है, कि फिल्में इतनी लम्बी होती हैं कि नींद आने लग जाए । याने सोने की गोलियों सरीखा प्रभाव वे भी करती हैं ।

कुछ लोग तो वाकई में सिनेमा में सोने ही जाते हैं । पड़ौसी से कह देते हैं, यार वह कक्कू का डांस हो तो उठा देना ।

कुछ हमारे हीरो-हिरोईन के चेहरों पर भी ऐसी भावुकता की मुर्दनी आ जाती है कि नींद आने लगती है ।

फिर कहानी अपने ढंग से बढ़ती है, माँ-बाप ने कैसे एक बच्चे को जन्म दिया और फिर 'बीस साल बाद' छोटे पैरों से बड़े पैर नजर आ जाते हैं और असली कहानी शुरू होती है ।

फिर प्यार हुआ तो एक कार में बैठे और लम्बे-लम्बे शहर के बाहर निकल गए । चुम्बनों पर सेंसर है इस कारण पाँच मिनट तक मुँह के पास मुँह रखे बैठे रहे ।

फिर एक वैश्या का घर 'सजनवा ना बाँधो बैर हम से।' और सरंगियाँ व तबलेवाला ।

फिर एक गलतफहमी, एक पिस्तौलबाजी, एक बलात्कार की चेष्टा और थाने से पुलिस का आगमन और सुखांत. . . , दरवाजा टूटा, हीरो छूटा, हिरोईन पास में !

बीच में एक कॉमिक जिसका इंचार्ज हो गोप या आगा ।

तिरछी हेट, मुँह मे सिगरेट और सूट पहने विलेन, अपने तीन दोस्तों के साथ मे ।

एक वृद्ध बाप, हिरोईन जिसे 'बापू-बापू' कहे और उसका एक जम कर भाषण ।

यह तो हो गई कहानी ।

फिर गीत भी भुला देने की क्षमता रखते है । इस बारे मे भारत-भूषण की ये पंक्तिया बडी अच्छी है, 'न लेना नाम भी तुम अब इलम का, लिखो बस गीत हुक्के का, चिलम का, अभी खुल जायगा रस्ता फिलम का ।'

धुनों के मामले मे जम कर चोरी होती है । बराबर का सुनने समझने वाला व्यक्ति इसे समझता है ।

गीतों की भी लडियाँ होती है—चाह का गीत, एक राह का गीत और ब्याह का गीत । फिर एक गली का भिखारी गाए, धोबियो, मछुहारों के लोक गीत-'हैया-हैया; छीयो राम।' एक थियेटर का गीत -'गोरी-गोरी गोरी-छोरी छोरी छोरी—मेरे पास आजा !' एक भजन—'प्रभुजी क्या तेरे राज मे अंधेरा रहेगा !' दर्द भरे गीतो की लड़ियाँ, आंसू भरी अँखियां, प्यार का मजा चखियाँ ।

और इन सब के बीच मे नारी जागृति या प्रजातन्त्र की पुकार ।

फिर नृत्य जिसके तीन तत्व है—छाती दिखा, कमर हिला और लहँगा उठा । जनता खोटे सिक्के पर्दे पर एक विशेष स्थान ताक कर फेकने लग जाती है ।

इसको कहते है—बाक्स आफिस !

हिरोईन अपनी बातचीत मे बड़ी मासूम और हीरो बड़े चालाक, डायलॉग की फिर क्या पूछो ।

बीच मे कुछ सामाजिक व्यंग्य और खेल राफल ।

'आइये रुपहरी पर्दे पर, आकर्षक अभिनय ; रेकार्ड-तोड़ संगीत; कमर तोड नृत्य, दिल तोड़ कहानी, ब्लैक मार्केट 'छे आने । छे आने ।'

आधी रात को सड़क पर गुनगुना रहे है—जोगन बन जाऊँगी, सैया तोरे कारन ! '

इधर फिल्मो का और लम्बी करने के लिए एक न्यूज रील, एक नई योजना, एक साबुन का विज्ञापन, दो ट्रेलर.........नींद आ जाने को यह काफी है ।



दो सौ वर्ष

मेरी आयु को देखते हुए आजकल जिस शैया पर सोता हूँ उसी का मृत्यु शैया हो जाना संभव है। अपनी कुँवारी साधों को बेलेंस किए मैं जी रहा हूँ, पर आंकिक मौत मैं मर गया, गणित की औसत ने मेरे प्राण ले लिए।

पर मैं जी रहा हूँ, साँसों की परिक्रमा अनवरत चालू है। जाने क्यों? मैं २५, २६ के लगभग आ गया और कहीं मैंने पढ़ा कि औसत भारतीय इस उम्र में मर जाता है : *यदि मैं जीता हूँ तो मैं भारतीय शायद नहीं हूँ* और मैं मर जाना पसन्द करूँगा, बजाय अभारतीय कहाने के।

आजकल मुझे अपने पर आश्चर्य हो रहा है। 'खुश रहो अहले वतन हम तो सफर करते हैं, की बिदा वाणी या 'हे राम' कब अभिव्यक्त हो, कह नहीं सकता।

पर अभी मुझे पता लगा कि विज्ञान ने मनुष्य की मृत्यु का कारण खोज कर ऐसी विधि प्रस्तुत की है जिससे मनुष्य दो सौ साल जीवित रह सकता है।

सोचता हूँ कि यदि ऐसा हुआ तो कैसा रहेगा।

यह दो सौ साल का जीवन हमारे सामाजिक पारिवारिक गठन, हमारी सभ्यता, संस्कृति और नैतिकता में कितना अन्तर ला देगा, समझ में नहीं आता।

हम अधिक कलाओं से परिचित हो जाएँगे। अपने जीवन की अनेक अधूरी इच्छाओं को पूरी कर लेंगे; आँखों की प्यास मन की प्यास अनबुझी नहीं रहेगी। पर साथ ही मनुष्य मनुष्य से अधिक दूर हो जाएगा।

आज दो दिन की जिन्दगानी के भय से हम प्रेम निभा लेते हैं, पर लम्बे दो सौ वर्ष में हमें अपनों से प्रायः विरक्ति हो जाएगी। एक वातावरण और एक व्यक्ति के प्रति निष्ठा असम्भव होगी।

शायद है इसका उलटा भी हो। दो सौ वर्ष तक पातिव्रत्य और एक पत्निव्रत इस धरती पर देखने को मिलें।

हमारी स्मरण शक्ति की गहराई चौड़ाई कितनी है, समझ नहीं आता। अपने जीवन के १७५ वें वर्ष में १५ वर्ष के साथ खेलनेवाले साथी से मिलकर पहचानी चमक हमारी आँखों में आएगी या नहीं ?

मतलब यह कि समस्या दर्शनग्रस्त है। सिर खुजाने के लिए अच्छा वैचारिक कारण है। किताब लिखने का मसाला है।

उन लम्बे दो सौ वर्ष तक मनुष्य क्या करेगा ? उसका जीना दूभर हो जाएगा या पाव भर ! आज तो पाव भर की जिन्दगी है और सेर भर का आदमी है। बड़ा मुश्किल है, तेरा प्यार बड़ा मुश्किल है।

संसार में दो ही तरह के लोग होते हैं। एक वे जिनके दिन धीरे-धीरे गुजरते हैं, लम्बी साँसों की तरह, और दूसरे वे जिनके दिन पलक झपकते ही निकल जाते हैं।

मेरे ख्याल से वे लोग खुश किस्मत हैं जिनको जीना लम्बा जान पड़ता है, हर दिन लम्बा हर रात लम्बी। और बदकिस्तम है वे जिनकी जिन्दगी चुटकी बजाते गुजरी है।

क्योंकि मरते समय एक प्रसन्न होगा कि यह कितना लम्बा जीवन था मेरा, और दूसरा दुःखी होगा हाय कितनी जल्दी मर रहा हूँ मैं।

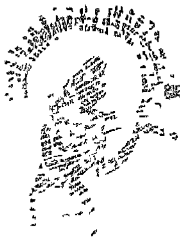
पर एक परिवर्तन तो निश्चित ही हमारे सोचने में आ जाएगा कि आज जैसे हम भूत, वर्तमान और भविष्य के बीच झूलते हुए जीते हैं, तब हम सिर्फ वर्तमान में ही जियेंगे।

पर वर्तमान कैसा होगा ? आज जैसा वर्तमान ! जहाँ रहना जीना मुश्किल है। जहाँ सांसों का हिसाब देते शरम आती है, जहाँ न पाये की प्यास और पाये से विराग, क्योंकि जानते हैं कि 'सब ठाट पड़ा रह जाएगा जब लाद चलेगा बंजारा।'

सो यह मेला दो दिन का भी फड़तूसी में गुजरता है और विज्ञान बेरहम कहता है कि जीवन दो सौ साल का हो जाएगा।

मुझे लगता है जब टेबलेट की तरह जिन्दगी सस्ती मिलेगी और जीना महँगा रहेगा, तब चाहे विज्ञान अपनी कितनी ही डींग मारे पर मनुष्य आत्महत्या करके मर जाया करेगा।

क्योंकि लम्बी जिन्दगी से महत्वपूर्ण प्रश्न है अच्छी जिन्दगी का।



कृष्ण

यों बनाने को एक मूर्ति या गुडिया मे ही देर लग जाती है—मनुष्य प्रयत्न करने पर एक कीडा भी नही बना सकता; परन्तु देवता बना देना, ईश्वर की कल्पना कर लेना सबसे अधिक आसान है।

राम जाने, कृष्ण आदमी था, देवता था या एक्टर, पर कुछ अजीब तो था, अपने समय का ब्रह्मपुत्र जो जरा से रबर को फुग्गारे में बदल सकता था, लिखने मे नही, जिन्दगी मे।

क्षत्रियों की लड़ाई व बेवकूफी के कारण समय का फेर ऐसा हुआ कि जैसे शिड्यूल कास्ट को पहले नौकरी मिलती है, वैसे उसकी दादागिरी का बड़ा चर्चा रहा जबकि राजनीति के खेल खेलने के पूर्व उसका अनुभव एक स्वयंसेवक का न होकर केवल गोपियो के प्रेमी होने का ही था।

मगर लोग तो उगते सूरज को नमस्कार करते है, अतः जिन धंधों के लिए बाप अपने बेटे को गाली देता है, उन्ही धंधों के अग्रणी को अवतार, तारनहार, देव आदि सब माना गया।

उसके कई साल बाद फिर तो मर्दों ने अपने को गोपी मानकर कृष्ण की भक्ति एक पतिव्रता रखैल की तरह की। रास मचाए, गीत लिखे—आध्यात्मिक से आध्यात्मिक और गंदे से गंदे।

याने रास्ता ऐसा था कि गोपी बनकर कृष्ण मे खोकर परम ब्रह्म मे मिल जाओ तो भूल भुलैया कुछ ऐसी रही कि कृष्ण में खोकर, कृष्ण से होकर गोपियों के प्रेम मे डूबे रहो।

आखिर भगवान भक्त के होते है और भक्त को शरीर भगवान ने ही तो दिया है।

फिर भी गभीरतापूर्वक मै कभी सोचता हूँ तो मुझे यह समझ मे आता है कि शायद बहिर्मुखी होना ही सबसे बड़ी बात है।

पर सर्वतोन्मुखी प्रतिभा तो कई है जो यमुना किनारे फुटबाल, रोमांस और राजनीति तीनों में कुशल रहें—पर यही तो कृष्ण नही है।

सच बात यह है कि अपने काम के लिए और उसे पूरी तरह से निभाने के लिए सनकी की तरह भीड़ जाना ही कृष्णपना है।

याने चोरी की तो ऐसी कि हर घर में चोरी की; और तो और खुद के घर में चोरी की ।

प्रेम किया तो सारे गाँव की औरतों को यमुना किनारे बुला लाए। लोक लाज की क्या चिन्ता !

बिदा हुए तो ऐसे कि याद ही नहीं कि पहले गोकुल में रहे थे ।

कंस को खत्म करना था तो सारी बाधा तोड़ उसके घर में घुस कर मारा। यह नहीं कि गोआ में मिलिट्री कैसे भेजें। अन्याय तो है मगर इसे खत्म कैसे करें ।

युद्ध करवाया तो ऐसा कि दो महायुद्ध के बाद भी लोग महाभारत को याद रखते हैं।

शादियाँ की तो वाजिदअलीशाह के असल पुरावे बने। रानियों की कॉलोनियाँ बसा दी।

और इसी का नाम है कृष्ण। मैया मैं नहीं माखन खायो या मैया मैं नहीं मक्खन लगायो कृष्ण नहीं है।

'शोभित कर में नवजीत (मक्खन) लिए' कृष्ण का रूप नहीं है। उसका रूप है एनाऊंसिंग के लिए शंख और आकर्षण को बाँसुरी, और गला काट देने को चक्र।

कुंवारे प्रोफेसर

कल तक जो सीढ़ी से चढ़ते उतरते तालियों, मजाक मस्तियों के पात्र थे वे जब एकाएक अपना चेहरा बदल उसी वातावरण में प्रोफेसर बन कर घूमते हैं तो उनकी स्थिति कई घंटों तक मंच पर नाटक करनेवाले पात्रों से कम नहीं होती ।

गत वर्ष जिन नए लड़कों को उन्होंने 'फर्स्टईयर फूल' बनाया था, अब उन्हीं की कक्षा में गम्भीरता बनाए रखने के प्रोफेसरी प्रयास सब व्यर्थ जाते हैं ।

एक ओर तो काफी अध्ययन कर पढ़ा कर सम्मान पाने की इच्छा हृदय में उचकती है और दूसरी तरफ उनका कालेजिया मन शरारतों की तरफ इशारा करता है । पर मन मारे बिचारे छः किताबें एक रजिस्टर बगल में दाबे कॉमन रूम से क्लास तक फर्स्टईयर की लड़की की तरह आते जाते रहते हैं ।

उन सारे विषयों का जिन्हें वे अपने पढ़ाई काल में टाल गए थे, अब उन्हें मास्टर बनना पड़ता है । नहीं तो लड़कों के सामने उन्हें शर्मिन्दा होना पड़े । लड़कियों के सामने भी, जो उनके टेबल के ठीक सामने सजधज कर परीक्षा लेने बैठती हैं ।

नया प्रोफेसर सबसे अधिक परेशान रहता है, अगर वह कुँवारा हो तो ।

वह पहली बेंच की ओर देखना चाहता है, पर उसके साथ ही उसे उन लड़कों का भी भय है जो उसकी ओर तथा पहली बेंच की ओर देख रहे हैं ।

वह प्रोफेसरी नजरों से किसी कोमल शकल की तरफ देखता है और एक क्षण के लिए उसकी आँखें साधारण युवक की आँखे बन जाती हैं, और फिर एकाएक उसे वापिस ख्याल आ जाता है और वह कहता है, यू सी हीअर देअर आर टू फेक्टर्स , वगैरा ।

यदि कभी उसकी वह भावना लड़कों ने भाँप ली, कभी कुछ वे समझ

गए तब फिर उस कुँवारे प्रोफेसर और कुँवारे लडको के बीच एक शीत संघर्ष प्रारंभ हो जाता है ।

लडके अपने क्षेत्र म किसी प्रोफेसर को नही आने देना चाहते । पर उन्हे भय भी रहता है कि कही उनकी परसेन्टेज न गिर जाए, कही वे बहुत अधिक नीचे न हो जाए । संघर्ष के प्रारंभ मे सब कुछ संभावित है ।

अत पढा लिखा लडका ऐसे कुछ प्रश्न पूछता है जिसका प्रोफेसर उत्तर न दे सके । और शैतान लडके कक्षा की स्थिति कुछ ऐसी कर देते है कि जिससे प्रोफेसर खीझ जाए, घबरा जाए, संतुलन खो बैठे, मूर्ख बन जाए-अयोग्य सिद्ध हो जाए और कोमल शक्ल के मन मे बना सम्मान उखड जाए ।

तब बेचारा कुँवारा प्रोफेसर अपनी आखो मे सहानुभूति की प्यास लिए पहली नरम बेच की ओर देखता है । वहा उसे मुस्कराहटे दिखती है । तब उसे पसीना आ जाता है ।

लडकी जानती है कि कुवारा प्रोफेसर कोई बुरा लडका नही है । उसके पैर सुरक्षित भविष्य मे है । अत वह बाकायदा मुस्कराती, लजाती है । पर बात करने मे प्रोफेसर को पूरा सम्मान देती है । ठडी हवा के झोंके की तरह कहती है, 'सर' .।

तेरी सास का सर । बेचारा प्रोफेसर सारी सहायता देने के बाद भी अपनी आशाओ को बक्स मे बद रखता है । एक तरफ कर्तव्य का क्षेत्र है, दूसरी तरफ उत्तरा, सो अभिमन्यु कुछ नही कर सकता ।

उसके सिर पर प्रिन्सिपल और डिपार्टमेंट है व हाथ नीचे शैतान लडके । उसके पैर नीचे वह रास्ता है जो सीधा उसे हेड आफ दि डिपार्टमेंट के पद पर ले जाएगा । वह सूखे रास्ते पर इधर उधर नजरे दौडाता चल पडता है ।

पर कभी जब साहसी कोमल नजर उसे घेर लेती है, उसे निमन्त्रित करती है, तो चूहे सा कातर हो उसका हृदय फूटता है—रहने दो बी बिल्ली चूहा लडूरा ही भला ।

दुरुस्ती

प्राचीन काल के लोग बड़े अच्छे थे । उन्होंने बजरंग की भी कल्पना की और उर्वशी की भी । संसार के लिए दोनों की जरूरत है । भीम का उस समय बड़ा महत्व था, माना, मगर जिसकी आड़ में से बाण चल सकें उसके महत्व को भी कौन विद्वान अस्वीकार कर सकता है ?

जी, पहलवानी में कुछ नुमायशी छिपी ही रहती है । जैसे प्राचीन काल की अनगढ़ मूर्ति को आसपास से देखकर समझना पड़ता है, ठीक वैसे पहलवान के भी आसपास घूम कर निरखा जाता है । पहलवान चाहता भी यही है ।

अभिनेत्रियों की तस्वीर की ओर जैसे कई बार आँखें थामें नहीं थमती हैं, ठीक वैसे ही पहलवान को देख मन में हीन भाव जगता है । सुन्दर से फूल और गोल मटोल पत्थर दोनों के अपने अपने आकर्षण हैं ।

फिर कमजोरी के अपने मजे हैं । रुई के तकिये, गादी और पैरों के पास पड़ी रजाई, हलका टूटता बदन और मीठी आलस, आप कहें—'आज जरा कुछ हरारत सी है ।'

मेहनत के कामों से हलकी हरारत—वाह ! लगता है सपने में खोए हैं ।

अमेरिका में हलके दुबले होने का आन्दोलन चल रहा है । संसार में सिनेमा ज्यादा हैं और अखाड़े कम । अभिनेत्री और अभिनेता बनने के इच्छुक ज्यादा हैं और पहलवान व चेले कम । और इस युग में जो ज्यादा है, वही सत्य है, जो कम है वह असत्य है ।

स्वस्थ शरीर अपने आप में कोई उद्देश्य नहीं । वह किसी उद्देश्य की प्राप्ति का मार्ग है । वह साधन है, साध्य नहीं । और साध्य के पाते ही साधन क्षीण होता है ।

प्राचीन मनीषी इस पहलवानी ब्रह्मचारी प्रवृत्ति के बड़े खिलाफ थे । उन्होंने कहा—शरीर क्या है, यह तो माया है, मोह है, तू इसकी चिन्ता से अपना स्वर्ग मत गवाँ । तन मन को अर्पित कर दे, प्रेम ही परमेश्वर है ।

स्वस्थ न होने का कारण चिन्ता माना गया है। वीर अभिमन्यु नाटक में युधिष्ठिर कहते हैं–'हा चिता तो मुर्दे को जलाती है और चिन्ता जीवित को जलाती है।'

कइयों को स्वास्थ्य की ही चिन्ता रहती है। बताइये कैसा विरोध है, इसी फिक्र में दुबले हैं कि और मोटे नहीं हुए।

कहा गया है कि तन और दिमाग दोनों में बेलेंस याने संतुलन चाहिए। एक को पाने में दूसरा हाथ से जाता है। तन्दुरुस्त अंगूठा छाप सारे देश की समस्या है। जनतन्त्र उनका दिमाग दुरुस्त करने की सोच रहा है।

आदमी का दिमाग किस दिशा में प्राचीनकाल से आज तक चलता आया! सोमरस, भंग, गांजा, अफीम, सुल्फा, चिलम सिगरेट आदि कई चीजें निकलीं और पेन्सिलिन जैसी चीज सिर्फ एक।

फिर तन की शुद्धि अथवा सौन्दर्य के लिए तो कई साबुन स्नो आदि हैं, मन की शुद्धि के लिए गाँधी और विनोबा को छोड़ किसी का पता नहीं। तन मन में संतुलन है तो आप ही राम हैं पर बिना धन के संतुलन के दोनों की बात नहीं जमती।

लोग सहज सोचते हैं, क्या फायदा पढ़ पढ़ किताबें विद्वान होने से। दंड बैठक लगाकर पहलवान ही बना जाए। समाज पर धाक रहेगी। सिनेमा में टिकिट जल्दी मिलेगा।

फिर भी रास्ता है पहलवान से पंडित होने के लिए—ढाई अक्षरों का ख्याल रखिए। गुरुकुल में आदमी ढाई अक्षर पढ़ कर पंडित व ब्रह्मचारी बन जाता था।

तनदुरुस्ती से मनदुरुस्ती अधिक आवश्यक है। मनदुरुस्ती से तन तो दुरुस्त रहता है ही, पर यदि केवल तनदुरुस्ती रही तो कब किसे देख मैल आ जाए, क्या कहें।

नाम

नाम से मैं 'अज्ञेय' जैसी बात नहीं करता कि वह नाम, जो लहर में काँपता है.......सरिता के प्रपाड़ित बिन्दुओं का ह्रास है। नाम से मेरा मतलब आपके हमारे नाम है।

अपना नाम, जो कि पंडित जवाहरलाल नेहरू को काफी बड़ा लगता है, ब्रह्मपुत्र को काफी छोटा लगता है।

मैं सोचता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति अपना नाम बड़ा रखना चाहता है पर समाज उसे छोटे से छोटा कर देता है। सुधा भी जब कॉपी पर नाम लिखेगी तो सुधाकुमारी श्रीवास्तव।

जैसे पहले नाम था मोहनदास कर्मचन्द गाँधी, फिर हुआ मो. क. गाँधी, फिर गाँधीजी, फिर बापू। बचपन में माँ छोटा नाम रखती है, करीम। मौलवी के पास जाते ही नाम हो जाता है अब्दुलकरीम। थोड़ी डिग्रियाँ मिलने के बाद हो जाता है, मौलाना अब्दुल करीमबख्श। थोड़ी शायरी लिख लेने पर मौलाना अब्दुलकरीमबख्श 'अजीज' सहारनपुरी। हज कर आने के बाद हाजी मौलाना अब्दुलकरीमबख्श 'अजीज' सहारनपुरी।

पर समाज सब कम करके कहता है, हाजीजी।

मुसलमानों में ही नहीं सिक्खों में भी, घर पर कहते हैं मोहिन्दर, बाहर मोहिन्दरपालसिंह। संगत लगी और नाम हुआ सरदार मोहिन्दर-पालसिंहजी ज्ञानी (दिल्ली में वे बड़ियाँ तोड़ें, पापड़ बेचें लासानी)। समाज कहेगा सरदारजी।

सो सब अपना नाम बड़ा रखना चाहते हैं। क्विक्झोट से मन प्रसन्न नहीं होता; होना चाहिए डॉन क्विक्झोट दी ला मांचा।

अतः बख्शीजी पद्मसिंह पुन्नालाल बख्शी और 'अज्ञेय' सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्सायन 'अज्ञेय' कहलाना पसन्द करते हैं। अपने पिता का नाम जोड़ते हैं।

कुछ लोग पिता का नाम नहीं जोड़ते । जो अपना पिता कौन है, इस विषय में निश्चित रहते हैं उन्हें नाम जोड़ने की जरूरत नहीं पड़ती ।

नाम से क्या विशेष चरित्र, विशेष व्यक्तित्व नजर आता है ?

यों तो अंधों के नाम नयनसुख रहते हैं पर फिर भी प्रसिद्ध चरित्र अपने नाम को विशेष व्यक्तित्व देते हैं, ऐसा हम मान सकते हैं ।

जैसे सुभाष, रवीन्द्र वगैरा । इन नामों के सुनने पर एक खास व्यक्तित्व एकाएक दिमाग में झलक आता है ।

पर जैसे जैसे ये नाम ज्यादा उपयोग में आते हैं वह व्यक्तित्व हलका चित्र देता है । जैसे किसी का रामचन्द्र नाम देख, भगवान राम की याद हमेशा नहीं आती ।

नामों का अध्ययन करने से सामाजिक आदर्शों का पता चलता है, पर प्रायः नाम बड़े दर्शन खोटे वाली चीज भी हो जाती है । नेहरूजी का नाम बड़ा है तो दर्शन भी बड़े हैं ।

भीलों में नाम बड़े कुरूप दिए जाते हैं । पूछने पर बताया जाता है कि यदि हम अपने बच्चों के नाम भगवान पर रखें तो जब गाली देते हैं तो वह ईश्वर पर लगती है ।

यहाँ नाम खराब हैं पर सामाजिक आदर्श बड़े हैं ।

शेक्सपियर इन बातों पर विश्वास नहीं करता । वह कहता है कि यदि गुलाब के फूल के बजाय गुलाब को कुछ और नाम दिया जाता तो भी सुगंध कम नहीं होती । नाम में कुछ नहीं है ।

नाम में कुछ हो, न हो; न सामाजिक आदर्श न चरित्र; व्यक्तित्व की बात सच निकले न निकले, पर इतना अवश्य है कि 'उपनाम' से कुछ अर्थ नहीं निकलता ।

ये सब व्यर्थ हैं ! रचनाएँ यदि अच्छी हों तो जो नाम हो वही प्रसिद्ध हो जाता है । बैल के सींग में फूल लगाने से बैल पौधा नहीं हो जाता ।



आप यह स्तम्भ पढ़ते है, मुझे पता नही आप इसे अपने कमल नयनों से पढ़ते हैं, मृगनयनों से पढ़ते हैं, अथवा आपकी आँखों पर चश्मा लगा है ।

शायद है आपकी आँखें मछली की तरह हों । मछली आपने देखी होगी । बाजार में बिकने आती है, टोकनियों में पड़ी रहती है । कुछ हलकी सड़ो-सी गंध टोकनी में आती है । आप की आँखें वैसी ही है ।

या एक पक्षी होता है, जिसे खंजन कहते हैं । आपने हमने या हमारे पिताओं ने भी कहीं उसे देखा नहीं होगा । (चिड़ियाघर की बात छोड़ो) । यों सामने आकर बैठ जाए तो आप उसे पहचानेंगे नहीं ।

पर पहले के कवि उसे अच्छी तरह जानते थे । मेरा विश्वास है कि वे लोग चिड़ियामार, मच्छीमार व हिरणमार लोग होंगे । इन उपमाओं को खोजने में जरूर उनके जीवन से संबंध होगा ।

काव्य के ढेर में आँखों को काफी उपमाएं दी गई हैं । किसी जमाने में जब नैत्र चिकित्सालय नहीं थे तब वाकई में ऐसी आँखें होगी होंगी ।

आजकल की क्या कहें ? रोज हम जेलरोड़ पर घूमते हैं । हमें कभी मृगनयनी नजर नही आई । एक दिन एक दिखी थी पर जब हमने आँखें मिलाई तो ऐसे घूरने लगी जैसे शेर नयनी हो ।

हमारा ख्याल है कि इन उपमाओं के आधार कुछ दूसरे होंगे । जैसे जो आप से आँखे मिलाते ही भाग जाए वह मृगनयनी । जिसको फँसाने के लिए पूरा जाल फेंकना पड़े वह मीननयनी और जिस पर आसानी से तीर चला सकें उसे आप खंजननयनी मानें ।

मेरी पत्नि विवाह के समय तक तो मृगनयनी थी पर थोड़े ही दिन बाद छोटी-मोटी बातों में ऐसे कबूतर की तरह आँखे घुमाने लगी कि मैं क्या बताऊँ ?

मेरी आंखें जो प्राय: लड़ती-भिड़ती रहती हैं, उन्हें भी दो उपमाएं अभी तक मिली हैं । निमाड़ में एक ने मुझसे कहा "थारी आँख्या छै कि कौड़ीना ।"

व तुकोगंज में एक ने कहा कि "आपकी आँखें हैं या बटन ?"

पर अब क्या आँखों की बात कहें, आँसू आते हैं। अब प्रेमिकाओं को चश्मे चढ़ गए। न वो सागर की गहराइयाँ रहीं, न वो काजल, न सुरमे। न वो आँखों की लाज रहीं; निम्मी और नरगिस के अलावा बात कह रहा हूँ।

अब तो लोभ के चश्मे चढ़ गए। लघुहूँ बड़ो लखाय।

आँखों की उपमा के नए प्रयोग होने चाहिए। जैसे 'तुम्हारे नैन में मैं नेह की गहराइयां आंकूं। बशर्ते वक्त मेरा बरबाद ना हो।'

अथवा "तुम्हारे खुर्दबीनी नयन, लाज की लेबोरेटरी में करते शयन। उन्हें घुमाओ. . . . ताकि प्यार के कीटाणुओं को देख पाओ।"

और "तुम्हारी टेलिस्कोपी आँख ने दूरी पास कर दी। निहारा प्यार का चाँद, मन में आस भर दी।"

ये आज मैं आँखों की छेड़खानी इस कारण कर बैठा कि मुझे इंग्लैण्ड की एक देवीजी जिनका नाम मिसेस जेनेट हिचरोन हैं के विषय में पढ़ने को मिला है कि उनके नेत्र में टेलिस्कोप की शक्ति है।

उसे सितारे गोल नजर आते हैं। वह ज्यूपिटर की स्थिति बता सकती है। दस फीट दूर से अखबार पढ़ सकती है। और पौन मील दूर बैठे उसके बच्चे के चेहरे के भाव पढ़ लेती है।

इन लाखों चश्मों में एक ऐसी आँख होना अच्छी चीज है। यदि सब स्त्रियों के ऐसे नेत्र हो जाएँ तो क्या बात है, वे पतियों के जेब देखकर नोट बता दें।

तब वे पत्र में लिखें, मैंने मीलों दूर से देखा, तुम्हारे चेहरे पर प्यार की रेखा थी और तुम दूसरी लड़की को घूरते थे।

इस तरफ कभी मत आना। मुझे अब तुम पर विश्वास नहीं है।